वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-50 किरण-1 जनवरी-मार्च 97

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002,
दूरभाष : 3250522

आचार-शून्य ज्ञान, कार्यकारी नहीं

—पूर्वाचार्यों कुन्दकुन्द आदि ने आगमों द्वारा 'दिशा-बोध' दिया था, आज भी विद्वानों व साधुँ वाचकों में 'दिशा-बोध' देने की होड़ लगी हुई है और इसके लिए सबने भाषा समिति को तिलांजलि तक दे, लम्बी-लम्बी वाचनाएँ देनी आरम्भ कर रखी हैं। कहने को प्रायः प्रबुद्ध साधु और श्रावक को अपने योग्य दिशा-बोध प्राप्त है। वह जानता है कि साधु के 28 मूलगुण क्या हैं? और श्रावक के अष्ट मूलगुण क्या हैं? ऐसी अवस्था में उसे 'दिशा-बोध' के स्थान पर तदनुरूप आचारण का मूर्तरूप उपस्थित करने कराने की आवश्यकता है। यतः धर्म तो आचार का नाम है।

खेद है कि आज आचार की दुर्दशा है, वह उल्टा लटक रहा है दूसरे शब्दों में प्राचीन काल में जिन साधु विद्वान् सेठों की जिस जमात ने धर्म विहित आचार की रक्षा और प्रभावना की थी आज उन्हीं के नामधारी तिगड्डे ने प्रचार के बहाने स्व-प्रशंसा की ध्वजा तक को हाथों से थाम लिया है। प्रायः साधु २८ मूल गुणों का पालन नहीं कर रहा, कथित विद्वान धर्म-विहित ज्ञान-आचार की बिक्री कर रहा है और सेठ-साहुकार व समाज में बने बैठे नेता यश-अर्जन मात्र के लिए धन पानी की तरह बहा रहे हैं। साधु प्रायः सांसारिक सुविधाओं की चाह में तथा कथित जयकारे करने-कराने वाली जमात जोड़ रहा है, कथित विद्वान् लेखन अथवा धार्मिक क्रिया काण्ड संपन्न कराने द्वारा दक्षिणा समेटने के चक्कर में है और धनिक वर्ग ना चाहते भी पंच कल्याणक आदि में स्व तथा चन्दा द्वारा संचित धन खर्च कर यश अर्जन में लगा है— आचार पालन से किसी का प्रयोजन नहीं। प्रयोजन है तो मात्र फोटो खिंचाने, मान-बडाई के संग्रह आदि से। गहराई से विचारा जाय तो आज धर्म-प्रचार के नाम पर आयोजकों का स्वयं का प्रचार है, आचार-धर्म का पतन ही है। लोग इतना जान लेते हैं कि अमुक चहल-पहल का श्रेय अमुक साधु, पंडित अथवा अमुक कार्यकर्ता को है, वे उसके जयकारे करने लगते हैं उसे प्रसिद्धि देते नहीं अघाते।

उक्त आचारहीनता के परिप्रेक्ष्य में ऐसा दिखता है कि समाज की भावी पीढ़ी (पोते-पड़पोते आदि) की दृष्टि से दिगम्बरत्व का मूल स्वरूप ही ओझल हो जायगा। वर्तमान स्थिति के परिप्रेक्ष्य में (जैसा वे देखते या देखेंगे) वे इतना ही सीख पाएंगे कि दिगम्बरत्व वहाँ है जहाँ नग्न रहकर, पराई संभाल में लगा रहा जाता हो, मंदिर-मठ व संस्थाओं की स्थापना करा उनका संचालन किया जाता हो आदि। यह सब तो कुन्दकुन्द विहित आचार से सर्वथा उल्टा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आज का 'दिशा बोध' दाता-पक्ष, जैनतरों के ईश्वर की भाँति कृतकृत्य हो चुका है, उसे अपना कुछ करना शेष नहीं, केवल सृष्टि के संभाल व बिगाड़ में लगा रहता है। बलिहारी है इस -दिशा-बोध' की प्रक्रिया को, जहाँ आचार शून्यता का बोल-बाला हो।

—संपादक

अनेकान्त

वर्ष ५०	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जनवरी-मार्च
किरण-१	वी.नि.सं. २५२२ वि.सं. २०५४	१९९७

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भवोदधि पारा हो
भोग उदास जोग जिन लीनो, छांड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय-दमन नमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो।
दुर्धर-तप तिय सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो।
करुणा भीज,चीन त्रसथावर, ईर्यापंथ समारा हो।।
मार मार व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो।
मास छमास उपास, बास बन प्रासुक करत अहारा हो।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो।।

□

व्रती सम्मेलन में आचार्य श्री सूर्यसागर महाराज के उद्‌गार

आज का व्रतीवर्ग चाहे मुनि हो चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है यह उचित नहीं है। मुनियों में तो उस मुनि के लिए एकाविहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के सान्निध्य में रहकर अपने आचार-विचार में पूर्ण दक्ष हो तथा धर्म प्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन में अपने को असमर्थ देख नव दीक्षित मुनि स्वयं एकाकी विहार करने लगते हैं। एकाविहारी होने पर किसका भय रहा? जनता भोली है इसलिए कुछ कहती नहीं, यदि कहती है तो उसे धर्म-निन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। कोई ग्रंथमालाओं के संचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रन्थ छपवाने की चिंता में ग्रहस्थों के घर घर से चन्दा मॉगते फिरते हैं। किन्हीं के साथ मोटरें चलती हैं तो किन्हीं के साथ ग्रहस्थजन दुर्लभ, कीमती चटाइयाँ और आसन पाटे तथा छोल दारियां चलती हैं। त्यागी, ब्रह्मचारी लोग अपने लिए आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। **'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों चूकें'** इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बैठ जाते हैं या हॉ मिलाकर गुरु भक्ति का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो और अपनी पद्धति को निर्मल बनाओ। उत्सूत्र प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नहीं।

त्यागी को किसी संस्थाबाद में नहीं पडना चाहिए। यह कार्य गृहस्थों का है। त्यागी को इस दल से दूर रहना चाहिए। घर छोडा व्यापार छोड़ा, बाल बच्चे छोडे इस भावना से कि हमारा कर्तृत्व का अहंभाव दूर हो और समता भाव से आत्मकल्याण करें पर त्यागी होने पर भी वह बना रहा तो क्या किया ? इस संस्थावाद क दलदल में फँसने वाला तत्व लोकेषणा की चाह है। जिसके हृदय में यह विद्यमान रहती है वह संस्थाओं के कार्य दिखाकर लोक मे अपनी ख्याति बढाना चाहता है। पर, इस थोथी लोकेषणा से क्या होने जाने वाला है ? जब तक लोगों का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है तब तक वे उसके गीत गाते हैं और जब स्वार्थ में कमी पड जाती है तो फिर टके को भी नहीं पूछते। इसलिए आत्मपरिणामों पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके, उतना त्यागी दे, अधिक की व्यग्रता न करे।

-'मेरी जीवन गाथा से'

पार्श्व-महावीर-बुद्ध युग के सोलह महाजनपद

—डॉ. गोकुल प्रसाद जैन

पार्श्व-महावीर-बुद्ध युग श्रमण संस्कृति का पुनरुत्थान युग माना जाता है। इस युग में जैन संस्कृति की व्यापक प्रभावना विद्यमान थी। इस युग का आरंभ 1100 ईसा पूर्व से माना जा सकता है।

1500 ईसा पूर्व से 1100 ईसा पूर्व तक भारत के मूल निवासी श्रमणों के साथ आर्यों के घोर सैनिक संघर्षों के पश्चात् अन्ततोगत्वा आर्यों की भारत पर सैनिक विजय हुई। आर्य लोग इसके पूर्व यूनान और मध्य एशिया पर भी अपनी विजय स्थापित कर चुके थे। आर्यों की विजय से इन क्षेत्रों में भी हजारों वर्ष पुरानी पूर्ण विकसित श्रमण संस्कृति और सभ्यता संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो गई। तीन-तीन आर्य श्रमण दीर्घकालिक महायुद्धों और उनसे सम्बद्ध अनेकानेक संघर्ष हुए।

प्रथम आर्यश्रमण (जैन) महायुद्ध 1300 ईसा पूर्व से 1185 ईसापूर्व के मध्य लडा गया, जिसमें आर्यों की विजय हुई। द्वितीय आर्य-श्रमण (जैन) महायुद्ध 1200 ईसा पूर्व से 1140 ईसा पूर्व के मध्य हुआ, जिसमें भूमि पर युद्धों के साथ-साथ नौसैनिक युद्ध भी हुए। ये नौ सैनिक युद्ध तत्कालीन श्रमणतन्त्रीय पणि (जैन) जनपदों, अर्थात् मोहनजोदडो जनपद, अर्बुद जनपद, क्रिवी जनपद आदि अनेक पणि जनपदों के साथ हुए। इनमें भी आक्रमणकारी आर्य सेनायें ही विजयी हरीं। तृतीय आर्य श्रमण महासमर 1140 ईसा पूर्व से 1100 ईसा पूर्व तक चला। इस महासमर में दाशराज्ञ युद्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसमें दस भारतीय तत्कालीन श्रमण (जैन) जनपदों ने, अर्थात् पुरु जनपद, अनुजनपद, द्रुह्यु जनपद, यदु जनपद, शिग्रु जनपद ओर यक्ष जनपद, इन दस जैन जनपदों ने मिलकर भारतों के नाम से (जिनके नामकरण का आधार प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत थे) ने संघ महाजनपद बनाकर विश्वामित्र के प्रधान सेनापतित्व में सुदास, इन्द्र और आर्यों के महासेनापित वशिष्ट के साथ युद्ध लड़ा था। उमसें भी अन्ततोगत्वा आर्य सेनायें विजयी रहीं तथा 1100 ईसा पूर्व में आर्य लोग उदीच्य (पश्चिम) भारत के सत्ताधारी और शासक बन गये।[1]

इन दीर्घकालीन महायुद्धों के कारण भारत में विद्यमान तत्कालीन प्रागार्य जनपद व्यवस्था पूर्णतया तहस-नहस हो गई तथा लगभग 100 वर्ष की अस्थिरता के पश्चात् 800 ईसा पूर्व के लगभग उनकी अनेक परिवर्तनों के साथ, पुनः जनपदों

---

1. Jay : The Original Nucleus of Mahabharat, Ram Chandra Jain (A world famous historian) Agaim Kala Prakashan Delhi; 1979 Page 257.

और महा जनपदों के रूप में पुनर्व्यवस्था हुई। इसकी जड़ें अब तक ज्ञात लगभग 4000 ईसा पूर्व तक के इतिहास में निहित हैं तथा वे पूर्ववर्ती चतुर्थ हिम युग के काल तक जाती हैं, जिसका इतिहास भी अब तक अल्प ज्ञात ही है।

मानव समाज के सर्वाधिक प्राचीन इतिहास "ऋग्वेद" का संकलन—सम्पादन लगभग 1000 ईसा पूर्व में हुआ था, जिसमें दस मंडल, 1006, सूक्त तथा 10280 ऋचायें हैं। इनकी रचना श्वेतवर्ण के मूल आर्य ब्राह्मण ऋषियों तथा व्रात्यस्तोम पद्धति से बलात् धर्म-परिवर्तन कराकर श्रमणों से आर्य बनाये गये कृष्ण वर्ण के ऋषियों द्वारा की गई थी।[2]

वस्तुतः ऋग्वेद के अधिकांश 627 सूक्त और 6702 ऋचायें तो श्रमणों से बलात् ब्राह्मण बनाये गये कृष्ण वर्ण के धर्मपरिवर्तित ऋषियों द्वारा रचित हैं, जबकि श्वेतवर्ण के मूल आर्य ब्राह्मण ऋषियों द्वारा रचे गए केवल 354 सूक्त और 3322 ऋचायें ही हैं। मिश्रित रक्त के भार्गव ऋषियों के रचे हए तो मात्र 20सूक्त तथा 313 ऋचायें हैं।

ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में जनपदों का उल्लेख नहीं मिलता है। यह तो चिरागत श्रमण परम्परा की विशिष्ट राजनैतिक एवं सांस्कृतिक-सामाजिक व्यवस्था थी जो पुराकाल में सुदीर्घकालीन देवासुर संग्राम के कारण नष्टभ्रष्ट हो गई थी तथा द्वापर युग में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के तीर्थकाल के अन्तिम चरण में इसी जनपद व्यवस्था की श्रमण धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही पुनर्स्थापना और प्रत्यावर्तन हो रहा था। यह तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तीर्थकाल का आरंभ 10वीं-9वीं शती ईसा पूर्व का युग था। इसे उपनिषद काल भी कहा जाता है।

सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रंथों में जनपदों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथ काल में धीरे-धीरे इन जनपदों का महा जनपदों के रूप में प्रत्यास्थापन ओर पूर्ण विकास होता चला गया। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, महाजनपदों का युग 1000 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व तक रहा।[3] महा जनपद वस्तुतः राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन का आधार बन गये थे। इनकी संख्या घटती बढ़ती रही है। पाणिनी की अष्टाध्यायी[4] में 22 जनपदों (संघों) का उल्लेख आया है। **बौद्धग्रंथ**-महावस्तु में केवल सात जनपदों का वर्णन मिलता है। बाद में आपसी संघर्ष और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के कारण जनपदों की संख्या कम होने लगी थी। बड़े-बडें जनपदों ने छोटे जनपदों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार महा जनपदों का उद्‌विकास हुआ।

पार्श्व-महावीर-बुद्ध युग में 16 जनपद विद्यमान थे। प्रसिद्ध जैन ग्रंथ भगवती सूत्र[5] और बौद्ध प्रसिद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय[6] में इनका विस्तृत विवरण मिलता

---

2 Ram Chandra Jain, Advocate, Sri Ganga Nager Rajasthan. He has writtern 157 History Books, some published by Chouk hambla, Varansi; Agam Kala Prakashan, Delhi; Mohanlal Banarsi Das Delhi. etc.

3 डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के महाजनपद विषयक विचार।

4. पाणिनी—अष्टयायी।

5. भगवती सूत्र।

6 अगुत्तर निकाय।

है। डॉ. राजबली पाण्डेय[7] ने भी इनका विवरण दिया है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत में महाजनपदों की पुनर्स्थापना हो चुकी थी, जो सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य महान के राज्यकाल तक चलती रही।

पार्श्वनाथ (877 ईसा पूर्व से 777 ईसा पूर्व) से श्रमण संस्कृति का पुनरुत्थान युग प्रारंभ होता है, जिसका भावी इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा तथा भारत और संसार भर में आध्यात्मिक पुनःरुत्थान तथा प्रत्यास्थापन हुआ। उनका काल प्राचीन भारतीय श्रमण संस्कृति का पुनर्जागरण काल या उपनिषदकाल का आरंभ भी माना जाता है जिसका श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

सोलह संघ-महाजनपद[8]

प्राच्य परिक्षेत्र

1. वृज्जी संघ-महाजनपद
2 काशी संघ-महाजनपद
3. कौशल संघ-महाजनपद
4. मल्ल संघ-महाजनपद
5. अवन्ती संघ-महाजनपद
6. वत्स संघ-महाजनपद
7. शूरसेन संघ-महाजनपद
8. मगध संघ-महाजनपद

दक्षिणात्य परिक्षेत्र

9. अश्वक संघ-महाजनपद
10. पाण्ड्य संघ-महाजनपद
11 सिंहल संघ-महाजनपद

उदीच्य परिक्षेत्र

12 सिन्धु-सौवीर संघ-महाजनपद
13 गान्धार संघ-महाजनपद
14 कम्भोज संघ-महाजनपद

सुदूर प्राच्य परिक्षेत्र

15. अंग संघ-महाजनपद
16. वंग संघ-महाजनपद

1. वृज्जी संघ-महाजनपद— वृज्जी संघ-महाजनपद तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अनुयायी था। उसकी सीमायें गंगा के उत्तर से नेपाल तक व्याप्त थीं। यह आठ जनपदों का समाहित महासंघ था। इसकी राजधानी वैशाली थी जो कि लिच्छिवि संघ की भी राजधानी थी। इस संघ महाजनपद के बन जाने से सारे देश में अनुकूलता की लहर फैल गई थी। इसके परम सर्वोच्च नेता एवं सेनापति महाराजा चेतक थे जिनके राजदूत सब महाजनपदों में नियुक्त थे और जिनके साथ उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये थे। उनकी पुत्री प्रभावती का विवाह

---

7. डॉ. राजवती पाण्डेय

8. History of Ancient Maha Janpad Bharat 1997, (1100 B.C. to 173 B.C.) Ram Chadra Jain; *Arihant Inernational, Gali Kunjas, Dariba Kalan, Chandni Chowk, Delhi-110006*

सिंधु-सौवीर संघ-महाजनपद के राजा उदयन के साथ, पुत्री मृगावती का विवाह वत्स महाजनपद के शतानीक के साथ, पुत्री शिवा का विवाह अवन्ती के चण्ड प्रद्योत के साथ तथा चेलना का विवाह मगध के सेनापति बिम्बिसार के साथ हुआ था। चेतक की बहिन का विवाह महावीर के पिता के साथ तथा श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार उनकी पुत्री ज्येष्ठा का विवाह महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्धन के साथ हुआ था। यह संघ-महाजनपद राजनीतिक दृष्टि से छठी शताब्दी ईसा पूर्व के अन्त में सर्वाधिक शक्तिशाली था। इसमें संस्कृति की महती प्रभावना थी।

उदीच्य, प्राच्य और दक्षिणात्य भारत के सभी महाजनपदों के लोग क्षत्रिय थे। वृज्जियों का उल्लेख वैयाकरण पाणिनी ने किया है तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं ब्राह्मण ग्रंथों में उनका उल्लेख हुआ है।

2. काशी संघ-महाजनपद— दसवीं-नौंवी शती ईसा पूर्व में काशी संघ-जनपद सर्वाधिक शक्तिशाली था तथा वह 800 ईसा पूर्व में संघ-महाजनपद बन गया था। काशी की प्रसिद्धि ब्राह्मण काल और उपनिषद काल में भी व्याप्त थी जब अजातशत्रु काशी संघ-महाजनपद का सर्वोच्च नेता था। उसने ब्राह्मण समुदाय को आत्मविद्या एवं जैन धर्म का पाठ पढाया था।

3. कौशल संघ-महाजनपद— प्रसेनजित इस महाजनपद का शक्तिशाली और प्रभावशाली सर्वोच्च नेता था। वह नौ संघ नेताओं का अधिपति था। उसने मगध की राजकुमारी से विवाह किया था मगध के सर्वोच्च सेनापति बिम्बिसार का विवाह भी कौशल की कन्या से हुआ था। इनका मागधों के साथ संघर्ष रहता था।

4. मल्ल संघ-महाजनपद— यह नौ संघ जनपदों से मिलकर स्थापित हुआ था। जिनके नौ जनपद नेताओं से मिलकर यहां की सर्वोच्च राजनैतिक और सैनिक सत्ता बनी थी। इनका मागधों के साथ संघर्ष बना रहता था।

5. अवन्ती संघ-महाजनपद— यह उत्तरी अवन्ती और दक्षिणी अवन्ती इन दो भागों में विभक्त था। चण्ड प्रद्योत यहां का एक प्रमुख राजन था जिसका मगध महाजनपद के साथ सैनिक सघर्ष हुआ था। इसके अन्तर्गत तीन संघ जनपद थे।

6. वत्स संघ-महाजनपद— इसकी राजधानी कोसम्बी थी। इसके साथ भर्ग जनपद भी सम्मिलित था। इसका सर्वोच्च नेता उदयन था जो अपने समय का प्रसिद्ध सेनापति था।

7. शूरसेन संघ-महाजनपद— यदुओं का ऋग्वेद में विवरण मिलता है तथा तुर्वस जनपद, अनु जनपद, द्रुह्यु जनपद एवं पुरु जनपद के साथ मिलकर वे पंचजन (श्रमण जैन धर्मी पांच जनपद) कहलाते थे। वे विश्वामित्र की सैनिक कमान में दाशराज्ञ (दश राजाओं) के रूप में आर्यों के विरुद्ध युद्ध लड़े थे तथा द्वितीय ब्रह्मार्य-भारत महायुद्ध में, नौसैनिक संघर्ष में हार गये थे तथा तत्पश्चात् तृतीय आर्य-श्रमण महायुद्ध में भी हारे थे। शूरसेन संघ-महाजनपद की राजधानी मथुरा थी। वे बाद में अनेक शाखाओं में बंट गये थे किन्तु वे 500 ईसवी तक निरन्तर ब्राह्मण वर्चस्व के विरोधी रहे। वे व्रात्य कहलाते थे तथा पार्श्व और महावीर के अनुयायी थे। शूरसेन संघ-महाजनपद में अन्धक, वृष्णि और सत्वत ये तीन संघ जनपद थे।

8. मगध संघ-महाजनपद— यह विहार राज्य के पटना और गया जिलों से मिल कर बना था तथा गिरिब्रज इसकी राजधानी थी। ऋग्वेद में कीकटों का नाम

आया है जो आचार्य यास्क के अनुसार, आर्य विरोधी थे तथा मागधों का ही भाग थे। अथर्ववेद और यजुर्वेद में मागधों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद का व्रात्य काण्ड मागधों को एकव्रात्य (महाश्रमण पार्श्वनाथ) का अनुयायी मानता है।[9] मगध निरन्तर और 1100 ईसापूर्व से 600 ईसापूर्व तक लगातार ब्राह्मण विरोधी जनपद बना रहा तथा तदुपरान्त अन्यों के साथ वह भी छठी शती ईसापूर्व के आरंभ में संघ-महाजनपद बन गया।

यह भी अन्य संघ जनपदों की भांति संघ जनपदों का परिसंघ था। इसके अन्तर्गत लगभग 80000 ग्राम या नगर जनपद थे जिनके शासन के लिए उनकी अपनी-अपनी परिषदें और ग्रामक थे। क्षेणिय बिम्बसार मूलतः सम्भवतः वज्जि संघ महाजनपद का एक सेनापति था जिसे चेतक की पुत्री चेलना ब्याही थी। ब्राह्मणों से उसका अच्छा सम्बन्ध था। उसके राज्यकाल में अन्य परिवर्ती राज्यों की भांति श्रमण धर्म की अच्छी प्रभावना थी। वह एक कुशल और शक्तिशाली सेनापति भी था। उसने अंग संघ से युद्ध कर विजय प्राप्त की थी और उस महाजनपद को अपने राज्य में मिला लिया था। उसकी राजधानी चम्पा तत्कालीन श्रमण विश्व के छह प्रसिद्ध नगरों में से थी। उसकी मृत्यु कुणिक अजातशत्रु के हाथों हुई थी जो इस प्रकार मगध संघ-महाजनपद का सर्वोच्च सत्ताधारी हो गया था।

मगध संघ-महाजनपद के पास उस काल के अति संहारकारी सैनिक शस्त्रास्त्र विद्यमान थे। कुणिक अजातशत्रु के शासनकाल में 527 ईसा पूर्व में महावीर का तथा 482 ईसा पूर्व में महाश्रमण गौतमबुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। उसके राज्य काल में श्रमणकालीन संघ महाजनपद व्यवस्था का ह्रास होने लगा था तथा श्रमणवाद पर ब्राह्मणवाद हावी होने लगा था तथा एकराट महाजनपदीय राजनीतिक व्यवस्था विकसित होकर सम्राट महाजनपद पद्धति का रूप ले रही थी।

9. अश्वक संघ महाजनपद— यह गोदावरी नदी के किनारे स्थित था तथा उसके निवासी आन्ध्र लोग थे। इसकी राजधानी पोदन (वर्तमान बोधन) थी। बौद्ध जातकों में इसका नाम पोटिल आया हैं यहां इस्वाकुवंशी राजा राज्य करते थे। यह कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्य विद्यमान था। इसे वस्तुतः आन्ध्र संघ महाजनपद कहा जा सकता है जो शन्तिपूर्ण संघ महाजनपद था।

10. पाण्ड्य संघ-महाजनपद— ये लोग पाध भी कहलाते थे तथा प्रागार्य प्राक्द्रविड़ कृष्णवर्गीय थे जो सुदूर दक्षिण भारत स्थित शूरसेन संघ महाजनपद से प्रव्रजन करके आये थे, जिनका विवरण यूनानी इतिहासकारों ने हेराक्लीज के नाम से दिया है। पाण्ड्य राष्ट्र में मातृ प्रधान राज्य व्यवस्था थी। इस महाजनपद में ३६० जनपद सम्मिलित थे। पाण्ड्य संघ महाजनपद में आर्य-पूर्व प्राक्द्राविड़ जनराज्य पद्धति विद्यमान थी।

11. सिंहल संघ महाजनपद— आधुनिक श्रीलंका का प्राचीन नाम तप्रोवने था जो सदा से भारत का ही अंग रहा तथा साम्राज्यवादी अंग्रेज शासकों ने उसे बीसवीं शती के पूर्वार्ध में राजनीतिक स्वार्थ वश भारत से अलग कर दिया था। यह कन्याकुमारी से संलग्न है। यहां सोना, चांदी, मोती तथा जवाहरात प्रचुरता में पाये जाते हैं। यहां के निवासी शूरसेन यदुवंशी कृष्ण के उपासक रहे हैं। यहां राजा का निर्वाचन किया जाता था जो 30 सदस्यों वाली एक सलाहकार परिषद् की सहायता से शासन करता था, जिसका विवरण यूनानी, ब्राह्मण, जैन और बौद्ध

9. अथर्ववेद– १५.२.५।

ग्रंथों में मिलता है। यहां के लोग अहिंसा धर्म के मानने वाले थे। समीपवर्ती भारत के पाण्ड्यजनों ने सिंहल में प्रव्रजन करके वहां भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसार किया था। यहां के शूरसेन कृष्ण जन यदुवंशी थे तथा आठवीं-सातवीं शती ईसापूर्व में पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। मेगस्थनीज के यात्रा विवरणों[10] में इनका उल्लेख मिलता है। ग्रीक व्यापारी अपने व्यापारिक उद्देश्य से यहां के पतनों का निरन्तर उपयोग किया करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार प्लिनी[11] ने प्रथम शताब्दी ईसवी में इनका विवरण दिया है। यहां के राजन का निर्वाचन किया जाता था।

वस्तुतः सिंहल और पाण्ड्य संघ महाजनपद अधिक समृद्ध और विकसित एवं आत्मविद्या (जैन धर्म) में अधिक उन्नत प्रतीत होते हैं, जबकि उत्तर भारत के अनेक प्राच्य महाजनपद आर्यों की विजय के कारण विदेशीय हिंसा और शोषण का शिकार रहे।

12. सिन्धु-सौवीर महाजनपद— ब्रह्मार्यों के आक्रमण के पूर्व यह क्षेत्र महत्वपूर्ण जनराज्य था। यहां यदु-तुर्वस जनपद विद्यमान थे। सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व इस क्षेत्र में अनेक जनपद मौजूद थे। ग्रीक इतिहासकारों ने इस क्षेत्र के पाण्डियन जनपदों का उल्लेख किया है, जिन्होंने मेसीडोनियन आक्रमण के समय अनेक संघ महाजनपद स्थापित कर लिए थे जिनके प्रमाण भगवती सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र से प्राप्त होते हैं। सिन्धु-सौवीरों का सर्वोच्च नेता उदयन था जिसकी राजधानी वीतभय पाटननगर थी। उसके अन्तर्गत 363 नगर और सोलह संघ जनपद थे। तीर्थंकर महावीर अंग संघ महाजनपद की राजधानी चम्पा से 553 ईसापूर्व में, विशेषतया स्वयं वीतभयपाटन नगर श्रमण धर्म का उपदेश करने के लिये गए थे। ग्रीक आक्रमण होने तक यह एक शान्तिपूर्ण महाजनपद था।

13. गांधार संघ महाजनपद— गांधार संघ महाजनपद के अन्तर्गत कश्मीर घाटी क्षेत्र और तक्षशिला महानगर क्षेत्र भी आता था। गांधार का सविस्तार विवरण ऋग्वेद और अथर्ववेद में आया है। गांधार संघ जनपद को नौवीं शती ईसा पूर्व तक ब्राह्मण महाजनपद से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी तथा उसके जननेता एवं कर्णधार पार्श्वमार्गी जैन श्रमण हो गये थे। महा जनपद युग में इस महाजनपद का सर्वोच्च नेता पुखसती था जो ईसापूर्व 544 में विद्यमान था और बिम्बिसार का समकालीन था। उसने छठी शती ईसापूर्व के उत्तरार्ध में बिम्बिसार के राजदरबार मं अपना राजदूत भी भेजा था।

14. कम्बोज संघ महाजनपद— कम्बोज संघ महाजनपद और गांधार संघ महाजनपद दोनों का भारतीय साहित्य और शिलालेखों में विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। ये भारत के सुदूर उत्तर में स्थित उत्तरापथ में विद्यमान थे। इसके अन्तर्गत राजौरी (प्राचीन राजपुरा) के चतुर्दिक स्थित क्षेत्र आता था जिसमें पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त स्थित हजारा जिला तथा काफिरिस्तान तक का क्षेत्र आता है। इस महाजनपद के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण भी प्रचुरता से प्राप्त हुए हैं। इस महाजनपद को सदैव और समय-समय पर विदेशी आक्रमणों की भारी मुसीबतें उठानी पड़ीं।

15. अंगसंघ महाजनपद— अंगक्षेत्र मगध के पूर्व और राजमहल पहाड़ियों के पश्चिम में स्थित था। यह चम्पा नदी द्वारा, जिसका वर्तमान नाम संभवतः चन्दना

---

10. मेगस्थनीज के यात्रा विवरण।

11. प्लिनी-सिंहासन संघ महाजनपद का विवरण।

है, मगध से पृथक्कृत है। इस महाजनपद की प्राद्धि राजधानी चम्पा ही थी जो गंगा और चम्पा के संगम पर स्थित थी। वर्तमान चम्पा नगर और चम्पापुरा प्राचीन राजधानी स्थल पर विद्यमान हैं।

अथर्ववेद में अंगों, गांधारियों, मूजवन्तों और मागधों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। दधिवाहन को इस महाजनपद का सर्वोच्च नेता माना जा सकता है, जिसका उल्लेख ब्राह्मण और जैन साहित्य दोनों में मिलता है। वह छठी शती ईसापूर्व के मध्य में हुआ था तथा मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु दोनों का तथा वत्सों के शतानीक का समकालीन था।

अंग संघ महाजनपद शान्तिप्रिय जैनधर्मी महाजनपद बना, किन्तु उसे अपने परम सहयोगी एवं भ्रातृतुल्य संघ महाजनपदों का कोपभाजन बनना पड़ा था। बिम्बिसार के युग में उसे मगध का अभिन्न अंग बना लिया गया।

16. वंग संघ महाजनपद– पुरातनवादी युनानी लेखकों के विवरणों से ज्ञात होता है कि नन्दवंशी धननन्द के काल से ही वंग मगध महाजनपद का भाग रहा था। बोधायन ने वंगक्षेत्र को अशुद्ध क्षेत्र माना है। पतंजलि ने उसे आर्यावर्त से पृथक् स्थान दिया है। किन्तु वस्तुतः जैन आगम के अनुसार, वंगसंघ महाजनपद तत्कालीन सोलह संघ महाजनपदों में सम्मिलित था तथा स्वतन्त्र जनपद था। यह विशुद्ध श्रमणधर्म का पोषक था। उस समय यज्ञवादी ब्राह्मण संस्कृति विदेह से आगे नहीं पहुंच पाई थी।

महाजनक जातक से भी इसका विवरण मिलता है। यहां के पणि और अन्य व्यापारी व्यवसाय के लिए स्वर्णभूमि तक जाया करते थे। इन उपर्युक्त सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त, अनेकों स्वतन्त्र संघ जनपद भी विद्यमान थे जो कुछ समय तक शान्तिपूर्वक परस्पर सहयोग से रहे। इन संघ जनपदों में कुरुसंघ जनपद, पांचाल संघ जनपद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। स्थानीय जनपदों में, बनिया ग्राम जनपद, पोलसपुरा जनपद, आलम्बिका जनपद, ऋषभपुरा जनपद, कनकपुरा जनपद, वर्धमान जनपद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस युग में (विशेषतया 600 ईसा पूर्व से 173 ईसा पूर्व तक) सम्पूर्ण भारत वस्तुतः महाजनपद भारत बन गया था। उस अवधि पार्श्व-बुद्ध-महावीर-युग में श्रमण धर्म का पुररुत्थान और पुररुद्धार हुआ था और श्रमणधर्मी राजनैतिक-सामाजिक पद्धति (जनपद व्यवस्था) का प्रत्यास्थापन हुआ था। उस काल के इतिहास में गणपदों का अस्तित्व नगण्य था। धीरे-धीरे जनपद अनेक कारणों से अपेक्षाकृत अधिक विशाल रूप धारण करने लगे। शनैः शनैः मत्स्यन्याय के सिद्धान्त के आधार पर, बड़े जनपद छोटे जनपदों को निगलने लगे और छोटे जनपद बड़े जनपदों में विलीन होने लगे। यह सम्पूर्ण जनपद और महाजनपद व्यवस्था श्रमणिक थी।

अजातशत्रु के शासनकाल के अन्त 486 ईसा पूर्व तक वल्जी, मल्ल, कौशल और वत्ससंघ महाजनपदों की दशा बिगड़ गई तथा उनके अनेक भाग मगधसंघ महाजनपद में शामिल कर लिए गए तथा धीरे-धीरे 173 ईसा पूर्व तक तो स्थिति सर्वथा बेकाबू हो गई और तत्पश्चात् सर्वत्र एकराट्, धर्मराट् तथा सम्राट् महाजनपदों का वर्चस्व और आधिपत्य हो गया।

-233 राजधानी, ऐन्क्लेव,
शकूरबस्ती, दिल्ली-110034

जैन दर्शन में भगवद् भक्ति

-नाथूराम डोंगरीय जैन (न्यायतीर्थ)

श्रद्धापूर्वक गुणानुराग प्रकट करने को भक्ति कहते हैं। आत्मीय गुणों में समानता होने से प्रत्येंक व्यक्ति अपने गुणों का विकास कर परमात्मा बन सकता है यह जैन धर्म का अटल सिद्धांत है। अतः आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम परमात्मा में अभिव्यक्त एवं प्रकर्षता को प्राप्त सद्‌गुणों की हर प्रकार आराधना कर अपने अव्यक्त गुणों को विकसित करने का सद् प्रयत्न करें।

जैन दर्शन में इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर भगवत्‌भक्ति करने का विधान किया गया हैं वस्तुतः जैन पूजा या उपासना एक आदर्श पूजा है जिसके करने का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना या उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा रखना नहीं है, क्योंकि भगवान् वीतराग हैं अतः वे भक्ति से प्रसन्न और न करने से अप्रसन्न होकर किसी को वरदान या श्राप नहीं देते— जैसा कि कर्त्तावादी मानते हैं। किन्तु वीतराग भगवान की भक्ति करने से आत्मा में गुणानुराग में वृद्धि होकर भावों में विशुद्धि और वीतरागता का संचार होता है तथा में भी वीतराग परमात्मा बनूं-ऐसी भावना प्रस्फुरित होती है। अतः जैनागम में वीतराग (अर्हन्त) भक्ति को परमात्म पद प्राप्त करने का एक साधन मानकर सोलहकारण भावनाओं में भी प्रमुख स्थान दिया है। सम्यदर्शन जिन साधनों से प्राप्त होता या हो सकता है उनमे जिन बिंब दर्शन, वंदन, गुणास्तवन, जिनधर्म श्रवण प्रमुख हैं।

इस विशाल विश्व में अधिकांशजनों की मान्यता है कि इस जगत का और हम सबका निर्माता—सुख-दुख का विधाता एवं स्वर्ग मोक्ष प्रदाता एक ईश्वर है। हम सब उसी की संतान हैं और वह हमारी भक्ति से प्रसन्न या न करने से अप्रसन्न होता है तथा उसकी मर्जी के बिना कुछ नहीं होता। यहां तक कि एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। किन्तु जैन दर्शन में विश्व के सभी पदार्थों को अनादि निधन एवं स्वतंत्र सत्तात्मक माना गया है तथा उसमें परमात्मा (भगवान्) को वीतराग, निरंजन, निर्विकार, परमज्योतिस्वरूप, कृतकृत्य एंव निरेच्छ मान उसे निराकुल एवं ज्ञानानंद स्वरूपी स्वीकार किया गया है। वह संसार के बनाने-मिटाने (निर्माण या संहार करने) आदि की सभी झंझटों से मुक्त है। उसकी आत्मा हमें आत्म दर्शन के लिए एक विशुद्ध आदर्श के समान है— जिसका ध्यान और आराधना करने

से हमें आत्म दर्शन (समय दर्शन) की प्राप्ति होती है या हो सकती है और फिर हम अपने सम्यग ज्ञान एवं सदाचार द्वारा पुरूषार्थ कर उसी के समान परमात्म्य लाभ भी प्राप्त कर सकते हैं। अत: परमात्मा एवं उसके गुणों की आराधना करना हम सबका परम कर्तव्य माना गया है।

चूंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्थान एवं पतन स्वयं ही करता या कर सकता है यदि वह पुरूषार्थ करें तो स्वयं को परमात्मा बना ले और या दुष्कर्मों द्वारा पतित होकर नारकी। अत: समझदारी इसी मे है कि यह सदकर्म कर स्वयं को शुद्ध (परमात्मा) बनावे सदा के लिए संसार के बंधनों से मुक्त होकर सुखी बन जावे।

आधुनिक युग में जबकि मोहजन्य कषाएं -- विषय वासनाएं एवं भ्रांत धारणाएं अपनी-अपनी चरम सीमा को प्राप्त होकर मानवता के भी विनाश करने में जुटी हुई है तथा शुक्ल ध्यान तो दूर धर्म ध्यान की संभावनाएं भी आर्त्तरौद्र ध्यान के कारण प्राय: क्षीण हो गई हैं ऐसी स्थिति में भगवत्भक्ति में चित्त को स्थिर रखकर भावों में पवित्रता लाने का अन्य कोई सरल साधन भी नहीं रह गया है। शील पाहुड़ ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद ने अरहंत भक्ति को सम्यक्त्व कहा है। तथैव आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार मे जिनेन्द्र भगवान् पर श्रद्धा करने को सम्यंगदर्शन कहकर उनकी नित्य प्रति पूजा-उपासना करने की प्रेरणा भी की है और उसको आत्म विकारों का नाश करने वाली कहकर अपने मनोरथों को सिद्ध करने वाली भी दर्शाया है। यहॉ तक कि स्वयं भ. वृषभदेव से लेकर महावीर धर्म एवं सभी तीर्थंकरों ने भी इसीलिए देव दर्शन, पूजन, वंदन, गुणस्मरण, संस्तंवन, ध्यानादि प्रक्रियाओं द्वारा वीतरागता की उपासना करने का श्रावक के दैनिक षट्कर्मों तथा श्रमणों के षडावश्यकों के अंतर्गत विधान किया तथा तदनुरूप सिद्ध वंदना व संस्तवन रूप स्वयं भी आचरण किया है।

वस्तुतः मुक्ति मार्ग (आत्मशुद्धि का मार्ग) वीतराग भगवान् और उनकी पवित्र वाणी पर आस्थापूर्वक उपासना एवं तदनुकूल आचरण करने से ही प्रारंभ व प्रशस्त होता है। क्योंकि सर्वप्रथम भगवत्वाणी से ही देशनालब्धि को प्राप्त जीव ही अपनी चिरकालीन मोहनिद्रा को भंग कर जागृत हो सम्यादृष्टि बनता है—यह नियम है। इसीलिए आत्म कल्याण के इच्छुक सभी मुमुक्षु व संतजन सदा से ही रागी द्वेषी देवी-देवताओं की उपासना न कर वीतराग भगवान् की उपासना एवं उनके गुणों की आराधना करते आए हैं।

भगवद् भक्ति का माहात्म्य

गुणानुरागपूर्वक निष्काम भगवद्भक्ति के प्रसाद से पूर्व संचित पाप कर्म स्वयमेव क्षय को प्राप्त हो जाते हैं तथा अनेक पापों का समूह पुण्य रूप मे परिवर्तित हो जाता है और किन्हीं पापों की स्थिति व अनुभाग (फलदान शक्ति) भी क्षीण हो

जाती है। इससे विघ्न बाधाएं एवं अनेक आपत्तियाँ एवं विपत्तियां भी स्वयमेव टल जाती हैं—जैसी कि स्वामी समन्तभद्र, आचार्य, मानतुंग,वादिराज धनंजय आदि संतों और भक्तजनों की देखी गई हैं।

भगवान्‌भक्ति मे तल्लीनता के समय प्रायः सांसारिक सभी प्रकार के संकल्प विकल्पों के दूर हो जाने से भक्तजनों को जो अलौकिक शांति एवं आनंदानुभूति हुआ करती है उसका तो कहना ही क्या ? स्वानुभूतिगम्य होने से वह वस्तुतः अनिर्वचनीय ही हुआ करती है।

यद्यपि भगवद्‌भक्ति करते समय भक्त में विद्यमान शुभ राग के अंशों द्वारा उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कर्मों का संचय भी होता है, किन्तु उस समय मुमुक्षु भक्त का उद्देश्य एवं भावना अपनी दीन-हीन संसार दशा का नाश करके वीतरागता आत्मसात कर मुक्ति प्राप्त करने की ही रहा करती है। जैसे किसान अनाज की प्राप्ति के लिए खेती करता है तो भूसा स्वयं प्राप्त हो जाता है। भूसे के समान प्राप्त वह पुण्य कर्म भी दुर्गति के दुखों से बचाकर सद्‌गति प्राप्त करने मे सहायक होता है-जिससे वह उत्तमदेव या मनुष्यभव पाकर पुनः मुक्ति पथ पर अग्रसर होने का पात्र बन जाता है। अतः आचार्यों ने इस पुण्यास्रव को कथंचित् परंपरा मुक्ति पथ प्राप्त करने का साधन मान व्यवहार धर्म के नाम से निरूपण किया है तथा जब तक निश्चय धर्म की प्राप्ति न हो जो कि आत्मलीनतामयी शुद्धोपयोग है-तब तक व्यवहार धर्म का रूचिपूर्वक सेवन करते रहने का विधान भी किया है।

भक्ति विषयक भ्रामक प्रचार

आधुनिक युग में कुछ प्रवचनकार निश्चय के पक्षपाती बन पात्र अपात्र का ध्यान न रख जन साधारण में अपने प्रवचनों द्वारा यह भ्रम फैला रहे हैं कि व्यवहार धर्म (भगवत्‌भक्ति आदि) हेय हैं। हमारी आत्मा (त्रिकाल शुद्ध) सिद्ध भगवान् के समान है। भक्ति करने से बंध होता है। और बंध संसार परिभ्रमण का कारण है अतः पूजनदानादि से लाभ नहीं हैं। पुण्य से बचना चाहिए आदि। यह एंकांतिक उपदेश केवल मुनिराजों को नहीं, प्रत्युत जन साधारण को दिया जाता है-जिन्होंने पाप भी नहीं छोड़ा उन्हें पुण्य को हेय बताकर छुड़ाने (पुण्य से दूर रहने) की प्रेरणा की जा रही है। इनके इन प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक सज्जन अपने को सिद्ध भगवान् के समान सर्वथा शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकारमान पूजनपाठ से विरक्त होकर उनका त्याग भी कर चुके हैं जबकि प्रवचनकार स्वयं रागी द्वेषी अव्रती बने संसार के कर्म बंधन में पड़े दुखी भी हो रहे हैं और जबकि विषयानुराग जो संसारपरिभ्रमण का कारण है और धर्मानुराग एवं धर्म् क्रियाएँ-जो संसार परिभ्रमण का कारण न होकर परंपरा से मुक्तिमार्ग के साधन हैं। अतः इन दोनों में जमीन आसमान का अंतर है। अत' पवित्र साधनों से ही विशुद्धसाध्यों की सिद्धि संभव

है अतः साध्य सिद्धि के पूर्व साधनों को ठुकराना या उनसे घृणा करना भ्रम जनित अज्ञानता ही कह लायेगी।

जैन दर्शन के सुप्रसिद्ध व्याख्याता तार्किकचक्र चूड़ामणि आचार्य प्रवर स्वामी समंतभद्र जिनस्तवन करते हुए लिखते हैं–

न पूजयार्थस्त्वायि वीतरागे
न निंदया नाथ ! विवांत वैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।

-बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

अर्थात् हे भगवान् ! आपको न तो हमारी पूजा से कोई प्रयोजन है :- क्योंकि आप वीतराग हैं और न निंदा से ही कोई द्वेष है क्योंकि आपने वैर भाव को समूल नष्ट कर दिया है। फिर भी चूँकि आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे मन के विकारों को नष्ट कर हृदय में वीतरागता का संचार करता है अतः आपकी पूजा हमें अभीष्ट फलदायक होने से विधेय होकर आत्म विशुद्धि का निर्मल स्रोत भी स्वयं सिद्ध हो जाता है।

यदि भगवत्भक्ति संसार परिभ्रमण और केवल बंध का ही कारण होती तो इसे तीर्थकर अपनी मुनि दशा मे स्वयं षडावश्यकों के रूप में प्रतिदिन सिद्ध वंदना न करते और उनकी स्तुति भी न करते। तथा न श्रावकों व अन्य श्रमणों को भी अनिवार्य रूप मे प्रतिदिन सम्पन्न करने का विधान करते ।

यह अवश्य है कि मुनिराज के शुद्धोपयोगी बन जाने पर उनके पुण्य-पापमयी शुभ व अशुभ उपयोग और क्रियाएँ स्वयं छूट जाती हैं; किन्तु आज जबकि शुद्धोपयोग तो दूर शुभोपयोग में रहना भी प्रायः कठिन हो रहा है-शुभोपयोग एवं पुण्यक्रियाओं को पापलिप्त संसारी जनों के लिए हेय बताकर उनसे दूर रहने का उपदेश देना एक प्रकार सर्व साधारणजनों को धर्म मार्ग से वंचित और दूर कर देना है जो आत्म वंचना के सिवाय परवंचना भी है। किसे कब क्या हेय और उपादेय है? वह व्यक्ति की योग्यता एवं द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति पर निर्भर है– जो व्यक्ति पुण्य के द्वारा साधक दशा में शुद्धोपयोगी बनने का पात्र बनता है उससे प्रारंभ में ही घृणा करा देना और हेय बताकर पापों के समान उससे दूर रहने की शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकती। जैसे समुद्र में डूबने वाले व्यक्ति को नौका उपादेय और उसमें बैठकर किनारे लग जाने पर वह अनावश्यक होने से छूट जाती है उसी प्रकार शुभोपयोगी धर्म क्रियाएँ नौका के समान होकर शुद्धोपयोगी बन जाने पर अनुपयोगी हो जाने से छूट जाती हैं। यदि डूबने वाला किनारे लग जाने के पूर्व ही नौका को हेय जान उसका सहारा न लेगा तो किनारे

लगना तो दूर रहा डूबकर मर ही जावेगा। वैसे ही शुद्धोपयोगी बनने केपूर्व यदि साधक शुभोपयोग को त्याग देगा तो अशुभोपयोगी बनकर नरकादि दुर्गतियों का ही पात्र होगा।

अशुभ उपयोग एवं पाप क्रियाओं का त्याग कर शुभोपयोग मयी धर्म क्रियाओं का करना और तत्पूर्वक शुद्धोपयोग को प्राप्त करने का पुरूषार्थ करना ही राजमार्ग है। जैसा सभी आचार्यो ने जिनवाणी के अनुसार प्रतिपालन किया है। जब तक कि शुद्धोपयोग की प्राप्ति न हो जो कि मुनिराजों को सातवें गुण स्थान में होती है तब तक चाहकर उत्साह पूर्वक शुभोपयोग एव पुण्य क्रिया करने में ही साधक का आत्महित सन्निहित है। यह अवश्य है कि केवल शुभोपयोग एवं पुण्यक्रियाएं जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होगी-मोक्ष नहीं दिलाएँगी और वे सद्‌गति का ही पात्र बनाएगी-जबकि उनका परित्याग कर अशुभोपयोग एवं पाप क्रियाएं नरकादि गतियो का ही पात्र बनाती है। अत· शुद्धोपयोग की वृद्धि के पूर्व जिनसे अभीपाप एवं विषम वासनाएँ नहीं छूंटी उनसे वासनाएँ तथा पाप क्रियाएं न छुडवाकर पुण्य क्रियाएं छुडवाना या सर्वथा हेय बताकर घृणा करवाना श्रेयस्कर नहीं होने से मुमुक्षु को पहिले पाप क्रियाएं छोडने एवं पूजन दान व ब्रतादि पालन करने का उपदेश देना उचित है। शुद्धोपयोगी बनने पर पुण्य क्रियाएँ स्वयं छूट जाएँगी। पंडित प्रवर टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में शुद्धोपयोगी न बन पाने पर शुभोपयोग को चाह कर अपनाने का निर्देश दिया है।

-549, सुदामानगर
इन्दौर (म.प्र)-452009

ऐसे बना णमो अरहंताणं

—जस्टिस एम. एल. जैन

छठी सदी ईस्वी के वैयाकरण वररूचि ने उनके समय में प्रचलित चार भाषाओं का जिकर किया । वे थीं-महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची और शौरसेनी। सातवीं सदी के रविषेण ने पदमपुराण में संस्कृत प्राकृत और शौरसेनी का जिकर किया। पंदहरवीं सदी[1] के चण्ड ने लिखा–

संस्कृतं प्राकतं चैवापभ्रंशो ऽ थ पिशाचिकी।
मागधी शौरसेनी च षड् भाषाश्च प्रकीर्त्तिताः।।

{संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, पिशाचिकी, मागधी, व शौरसेनी ये छह भाषाएं प्रसिद्ध हैं}

इससे जाहिर होता है कि यह अपभ्रंश का युग चला आ रहा था। आठवीं सदी के प्रथम चरण में लिखे गए स्वयंभूदेव का पउम चरिउ भारत की एक दर्जन अमर रचनाओं मे स्थान पाता है। इसलिए चण्ड के समय मे हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश समुन्नत साहित्यिक भाषा थी। उस समय तक उसमें अनेक उत्कृष्ट काव्य रचनाएं हुई होंगी।

खैर, प्राकृत के बारे में वैयाकरण चण्ड का कहना है कि "क्वचिल्लोपः, क्वचित्सन्धिः, क्वचिद्वर्णविपर्ययः आगमो ऽअन्तादि मध्येषु लक्ष्यं स्यात् तनु भाषितम्"। उसके अनुसार प्राकृत तीन प्रकार की थी—संस्कृतयोनि (तद्भव) संस्कृतसम (तत्सम) और देशी। देशी प्राकृत अनेक प्रकार की थी।

इसी सिलसिले में चण्ड ने संस्कृत के नमो ऽर्हत् से णमों अरहंताणं बनने की प्रक्रिया निम्न प्रकार बताई है।

1 सूत्र **तवर्गस्य चटवर्गौ** से न का ण होकर बना=**णमः अर्हत्**।
2 सूत्र **एदोद्रलोपा विर्जनीयस्य**, एत् ओत्, र लोपा विर्जनीयस्य से विसर्ग का लोप होकर बना=**णम ओ अर्हत्**।
3 सूत्र **स्वराणां स्वरे प्रकृति लोप सन्धयः** से अ का लोप होंकर रहा=**णम् ओ अर्हत्** जिसका स्वरसंधि होकर बना=**णमो अर्हत्**।
4 वर्ण विश्लेष करने पर 'र्ह' का 'र्ह' होने से बना=**णमो अर्हत्**
5 सूत्र **संयोगस्येष्ट स्वरागमो मध्ये द्वयो र्व्यञ्जनयो र्मध्ये इष्ट स्वरागमो भवति** से बना=**णमोअरहत्**
6. सूत्र **अनुस्वारो बहुलम्** से बना=णमो अरहन्त्।

7 सूत्र **अदागमो ऽ नुस्वारलोपौ च व्यञ्जनस्य,** अकारागमो ऽ नुस्वार लौपो च व्यञ्जनस्य भवति से बना=**णमो अरहंत।**

8 सूत्र **षष्टीवत् चतुर्थी**, षष्टीवत् चतुर्थी इष्टव्या तथा सागमस्या प्यागमो णो हो वा, सागमस्या मो ऽनागयस्यापि णकारो भवति हो रा।

9 से बना=**णमो अरहंतण**

10. सूत्र **स्वरोऽन्योऽन्यस्य,** स्वरोऽन्योऽन्यस्य स्थटर्न भवति से बना =**णमो अरहंताण।**

11. सूत्र **अनुस्वारो बहुलम्** अनुस्वारस्य क्सचिल्लोपो भवति क्वचिद् आगमः क्वचित् प्रकृति से बना= **णमो अरहंताणं।**

इस लेख का आधार है सन् 1929 मे सत्यविजय जैन ग्रंथ माला अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित "जैन कवि विरचितम् **प्राकृत लक्षणम्"** पुस्तक का पृष्ठ 31 परिशिष्ट CD का पाद टिप्पण। इसका लक्ष्य है पाठकों को इस बात से परिचित कराना कि संस्कृत 'नमो अर्हद्भ्यं' का प्राकृत रूप है **णमो अरहंताणं**। यह मंत्र पद उतना ही प्राचीन हे जितनी प्राकृत भाषा। विशेष विषय है भाषा विदों, भाषा वैज्ञानिकों व वैय्याकरणों के गहन विचार का।

—मंदाकिनी एन्क्लेव
नई दिल्ली

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।।

—समन्तभद्राचार्य

—सम्यग्दृष्टि जीव किसी के भय, किसी प्रकार की आशा और किसी प्रकार के लोभ से ग्रसित होकर, अनिष्ट परिहार के लिए कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम नहीं करता और न उनकी विनय ही करता है।

1- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार चण्ड ई. पू. 2-3 सदी का है और नेमिचन्द्र ने अपने प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास सन् 1966 पृ. 75 पर चण्ड को मध्य युगीन होना बताया है।

श्रमण की आहारचर्या

–कु. निशा गुप्ता

त्रयाणां शरीराणां षष्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः अर्थात् तीन शरीर (औदरिक, वैक्रियिक और आहारक) और छह पर्याप्तियों (आहार, शरीर इन्द्रिय, आनप्राण अर्थात श्वासोच्छवास, भाषा और मन) के योग्य पुद्गलो के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।[1] यह जीव अहारमय है। अन्न की इसका प्रमाण है। आहार के अभाव में आर्त और रौद्र ध्यान से पीड़ित होकर वह ज्ञान और चरित्र में मन नहीं लगाता।[2] आगम मे कहा है– शरीर रतनत्रयरूपी धर्म का मुख्य कारण है, इसलिए भोजनादि के द्वारा इस शरीर की स्थिति के लिए इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे इन्द्रियाँ वश में रहें और अनादिकाल से सम्बद्ध तृष्णा के वशीभूत होकर कुमार्ग की ओर न जावे।[3]

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से आहार चार प्रकार का होता है।[4] क्षुधा को शान्त करने वाला आहार जैसे–भात, दाल आदि अशन नामक आहार हैं जो खाया जाय जैसे–पूरी लड्डू आदि आहार खाद्य है। प्राणों पर अनुग्रह करने वाला जैसे–जल, दूध आदि आहार पान है तथा जो आहार स्वादपूर्वक लिया जाय जैसे–पान, सुपारी आदि स्वाद्य है। प्रमुख ग्रनथों के आधार पर आहार के भेद प्रभेदों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

आहार

कर्माहारादि	खाद्यादि	कांजीआदि	पानकादि
कर्माहार	-अशन	-कांजी	-स्वच्छ
नोकर्माहार	-पान	-आंवली या	-बहल
कवलाहार	-भक्ष्य या खाद्य	-आचाम्ल	-लेवड
लेप्पाहार	-लेह्य	-बेलडी	-अलेवड
ओजाहार	-स्वाद्य	-एकलटाना	-ससिक्थ
मानसाहार			-असिक्थ

1. स्वार्थ सिद्धि 2/30, 2. अनगार धर्मामृत 7/16 3. अनगार धर्मामृत 7/9 4. मूलाचार गा 646, भ. आ. गा.423 की वि. पृ. 328 5. मूलाचार गा. 646, अंधर्मा. 7/13 6. नियमसार तात्पर्य वृत्ति 63 7. मूलाचार गा. 646, अं. धर्मा 7/13 8. व्रत विधन संग्रह पृष्ठ 26, 9. भगवती आराधना गा. 700

आहार ग्रहण तथा त्याग के कारण—क्षुधा वेदना शान्त करने के लिए, वैयावृत्य के लिए, छह आवश्यक आदि क्रियाओं के लिए, तेरह प्रकार के संयम के लिए तथा प्राणों की और धर्म की चिन्ता के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हैं।[1] मुनि बल, आयु, स्वाद, शारीरिक पुष्टि और तेज के लिए नहीं अपितु ज्ञान, संयम और ध्यान के लिये आहार ग्रहण करते हैं।[2]

आतंक होने पर, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतन कृत उपसर्ग के आने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षणार्थ प्राणिदया, तप और सन्यास के लिए मुनि आहर का त्याग करते हैं।[3]

आहार-परिमाण—पुरूष के पेट को पूर्ण रूपेण भरने वाला आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण होताहै तथा स्त्रियों के कुक्षिपूरक आहार का प्रमाण अट्ठाइस ग्रास होता है।[4] मूलाचार में भी यही कहा गया है—कि एक हजार चावल का एक कवल कहा जाता है अर्थात् बत्तीस ग्रास पुरूष का स्वाभाविक आहार होता है।[5] भ आ मे लिखा है— जैसे ईधन से आग की और हजारों नदियो सं समुद्र की तृप्ति नही होती वैसे ही यह जीव आहार से तृप्त नहीं होता।[6] चिरकाल तक आहार खाकर भी उसकी तृप्ति नहीं होती और इसी कारण उसका मन अत्यन्त व्याकुल रहता है।[7] अत ब्रह्मचर्य के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नहीं होता, क्योंकि आहार में बहुत सुख नहीं है। केवल जिह्वा के अग्रभाग मे रखने मात्र ही सुख है।[8] अत प्रतिदिन परिमित और प्रशस्त आहार लेना श्रेष्ठ है, किन्तु अनेक बार आहार लेना या अनेक प्रकार आवास करना ठीक नहीं।[9] साधु के उदर के चार भागों मे से उदर का आधा भाग भोजन से तथा तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिए।

और चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रहना चाहिए। जिससे छह आवश्यक क्रियायें सुख पूर्वक हो सकें। स्वाध्याय, ध्यान आदि मे हानि तथा अजीर्ण आदि रोग न होवे।[10]

आहारार्थ गमन-विधि—आहार ग्रहण के लिए जाते हुए साधु को चार हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए न अधिक शीघ्रता ओर न अधिक रुक रुककर किसी प्रकार के वेग के बिना गमन करना चाहिए। गमन करते हुए हाथ लटकाए हुए हो, चरण निक्षेप अधिक अन्तराल से न हो , शरीर विकाररहित हो, सिर थोडा झुका हुआ हो, मार्ग जल और कीचड से रहित हो तथा त्रस जीवों और हरितकाय की बहुलता

---

1 मूलाचार गा 479 अनगार धर्मामृत 5/61 2 मू आ गा. 481 3. मू आ आ 480 अनगार धर्मामृत 5/64 4. भगवती आराधना गा. 213

5 मू आ. गा 350 की आचार वृत्ति 6 भ आ. गा. 1649

7. भ आ गा. 1648 8 भ आ गा 1655

9 मू. आ. 10/47

10. अद्धमसवस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियुमदयेण।
ताउ सचरणट्ठ चउत्थमवसेसये भिक्खू ।।491।। मूलाचार वृत्ति सहित

न हो। यदिमार्ग मे गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलहकारी मनुष्य हों तो उस मार्ग से दूर हो जाये। मुनि को इस प्रकार गमन करना चाहिए कि जिससे पक्षी तथा खाते-पीते हुए मृग भयभीत न हो ओर अपना आहार छोड़कर न भागे। यदि आवश्यक हो तो पीछी से अपने शरीर की प्रतिलेखना करें। यदि मार्ग में आगे निरन्तर इधर-उधर फल बिखरे पड़े हों या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमि में प्रवेश करना हो तो उस वर्ण वाले भूमिभाग में ही पीछी से अपने शरीर को साफ कर लेना चाहिए। तुष, गोबर, राख, भुस और घास के ढेर से तथा पत्ते, फल, पत्थर आदि से बचते हुए गमन करना चाहिए। किसी के निन्दा करने पर क्रोध और पूजा करने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए। बालक, बछड़ा, मेढ़क और कुत्ते को लॉघकर न जाये, जिस भूमि में पत्र पुण्य, फल और बीज फैले हों तो उस पर से न जाये, तत्काल लिपी हुई भूमि पर न जाये। जिस घर पर अन्य भिक्षर्थी भिक्षा के लिए खड़े हों, उस घर में प्रवेश न करे। जिस घर में कुटुम्बी घबराये हों; उस घर में प्रवेश न करें। जिस घर में कुटुम्बी घबराये हों; उनके मुख पर विषाद और दीनता हो, वहाँ न ठहरें। भिक्षार्थियों के लिए भिक्षा मांगने की भूमि से आगे न जाये।[1]

मूलाचार में कहा है कि भिक्षा के लिये चर्या में निकले हुए मुनि गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति) गुण (मूल और उत्तरगुण) शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए और तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तन करते हुए चलते हैं।[2] भिक्षा के लिए निकले हुए मुनि को आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम की विराधना इन पाँच दोषों का परिहार करना चाहिए। सूर्योदय होने पर देववन्दना करने के पश्चात् दो घडी के बीत जाने पर श्रुत भक्ति, गुरू भक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धान्त आदि ग्रन्थों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा औरपरिवर्तन आदि करके मध्याह काल से दो घड़ी पहले श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त करे, तत्पश्चात् शरीर के पूर्वापर देखकर, पिच्छिका से परिमार्जन करके, हाथ-पैर आदि का प्रक्षालन करके, मध्याह्नकाल की देववन्दना करे। इसके बाद जब बालक भोजन करके निकलते हैं, काक आदि को बलि भोजन डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य सम्प्रदाय वाले साधु भी विचरण कर रहे होते हैं तथा गृहस्थों के घर से घुआं और मूसल आदि शब्द शान्त हो चुका हो, इन सभी कारणों से योग्य समय जानकर ही मुनि को आहार के लिए निकलना चाहिए।[4]

संकल्पपूर्वक गमन-विधि—मुनि को भिक्षा और भूख का समय जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम, नगर आदि में प्रवेश करना चाहिए और भोजन के काल का परिमाण जानकर ग्रामादि से निकलना चाहिए।[5] वृत्तिपरिसंख्यान

---

1. भ. आ. गा. 1200 की वि.
2. भिक्खा चरियाए प्रण गुत्तीगुणसीलसजमादीणं।
   रक्तखतो चरदिमुणी विव्वेददिगं च पेच्छंतो।।493।। मूलाचार
3. आणा अणवत्थावि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
   सजमविराहणावि य चरियाए परिहरेदव्वा।।494।। मूलाचार
4. मू. आ. गा. 0318 की वृ.,
5. भ. आ गा 152 की वि. प्र. 195

नामक चतुर्थ बाह्यतप का वर्णन करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि मुनि अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा से सम्बद्ध अनेक प्रकार के संकल्प ग्रहण करता है। जैसे-जिस मार्ग से पहले गया उसी मार्ग से लौटते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। सीधे मार्ग पर जाने पर भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा, नहीं। गाय अथवा बैल के मूत्रवत् मोड़ों सहित भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

वस्त्र, सुवर्ण आदि के रखने के लिए बाँस के पत्ते आदि से बने ढक्कन युक्त सन्दूक के समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलने पर ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार पक्षियों की पंक्ति के भ्रमण के समान ही भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। गोचरी भिक्षा के समान भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। एक-दो आदि फाटकों तक प्राप्त ही अथवा विवक्षित फाटक में प्राप्त हो, अथवा विवक्षित घर के आंगन मे प्राप्त हो, अथवा द्रव्यरूप ही पिण्डरूप नहीं, अथवा धान्यादि रूप आहर मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। कुल्माष आदि व्यंन्जन से मिला हुआ शाक, जिसके चारों ओर शाक और बीच में भात हो ऐसा आहार, चारों और व्यंजन के मध्य मे रखा हुआ अन्न, व्यंजनों के मध्य मे पुष्पावली के समान चावल, शुद्ध अर्थात् बिना कुछ मिलाये अन्न उपहित अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि लेवड अर्थात् जिससे हाथ लिप्त हो जाये, अलेवड़ अर्थात् जिससे हाथ लिप्त न हो, सिक्थ सहित पेय और सिक्थरहित पेय ऐसा भोजन ही मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सोने, चाँदी, काँसी या मिट्टी के पात्र द्वारा लाया गया भोजन ही ग्रहण करूँगा। स्त्री, बालिका, युवती, वृद्धा, अलंकार सहित अथवा अलंकार रहित स्त्री, ब्राह्मणी अथवा राजपुत्री द्वारा दिया आहार ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार बहुत से संक्ल्प भिक्षुक को अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करके ही आहार के लिये निकलना चाहिए। संकल्पों के पूर्ण होने पर यदि भिक्षा लाभ होता है तो प्रसन्न और भिक्षा न मिलने पर दु:खी नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह साधु दु:ख सुख मे समान रहता है। वह भिक्षा लाभ के लिए किसी सद्ग्रहस्थ की प्रशंसा या उनसे याचना नहीं। करता। अचानक वृत्ति से बिना किसी संकेत या आवाज किये मौनपूर्वक भ्रमण करता है। किसी से दीनतापूर्वक भिक्षा नहीं माँगता। दीन या कलुष वचन नहीं बोलता है, अपितु भिक्षा लाभ न होने पर मौनपूर्वक लौट जाता है।[2] अपना आगमन बताने के लिए याचक अव्यक्त शब्द नहीं करता है। बिजली की तरह अपना शरीर मात्र ही दिखाता है। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा, ऐसा भाव भिक्षुक के हृदय में नहीं आना चाहिए।[3]

---

1 गत्तापच्चागद उज्जुवीहि गोमुत्तिय च पेलविय।
सम्बूकावट्टपि पदगवीधी य गोयरिया। भ. आ.गा. 220 वि. सहित
पाडयणियसणा भिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाण।
पिंडेसणा य पाणेसणाा य जागूय पुग्गलया।। वही, गा. 221
ससिट्ठ फा‍लिह परिखा पुप्फोवहिद व सुद्धगोवहिद।
लेवडमलेवड पाणाय च णिस्सित्थग ससित्थं।। वही, गा. 222
पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविविहा णादव्वा वुत्तियपरिसखा।। वही, गा. 223

2 मूलाचार 9/50-5 3. भगवती-अराधना गा. 1200 की वि.

आहार ग्रहण करने योग्य-अयोग्य घर—देशाभिघट और सर्वाभिघट की अपेक्षा से अभिघट दो प्रकार हो होता है। उनमे देशाभिघट आचिन्न ओर अनाचिन्न दो प्रकार का है[1]– सरल पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आयी हुई बस्तु आचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य है, और इनसे अतिरिक्त घरों से आयी हुई वस्तु अनाचिन्न अर्थात् ग्रहण न करने योग्य है। क्योंकि उनमे दोष देखा जाता हैं।[2] सर्वाभिघट के चार भेद हैं– स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश, परदेश।[3]

'भगवती-आराधना' में कहा है कि साधु को बड़े, छोटे और मध्यम कुलों मे एक समान भ्रमण करना चाहिए। जिस घर में गाना, नाचना होता हो, झंण्ड़ियाँ लगी हों, मतवाले लोग हों, शराबी वेश्या लोकनिन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर जिस घर में प्रवेश वर्जित हो, आगे रक्षक खड़ा हो, प्रत्येक व्यक्ति न जा सकता हो, ऐसे घरों में नहीं जाना चाहिए। दरिद्र कुलों और आचरणहीन सम्पन्न कुलों में प्रवेश नहीं करना चाहिए, लेकिन जहाँ बहुत से मनुष्यों का आना-जाना हो, जीव-जन्तुओं से रहित, अपवित्रता रहित, दूसरों के द्वारा रोक-टोक से रहित तथा आने जाने के मार्ग से रहित स्थान में ग्रहस्थों के द्वारा प्रार्थना करने पर ठहरना चाहिए।[4]

साधु के योग्य आहार-शुद्धि—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम, और कारण इन आठ दोषों से रहित आठ प्रकार की पिण्ड शुद्धि होती है।[5] जो नवकोटि अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से शुद्ध हो, ब्यालीस दोषों से रहित हो, संयोजना से हीन हो, प्रमाण सहित हो, विधिपूर्वक अर्थात् नवधा भक्ति तथा सात गुणों से युक्त दाता के द्वारा दिया गया हो। अनगार और धूम दोषों से रहित हो, छह कारणों से युक्त हो, क्रम विशुद्ध हो, जो प्राणों के धारण के लिए अथवा मोक्ष-यात्रा के साधन का निमित्त हो, तथा नख, रोम, जन्तु, हड्डी, कण, कण्ड, पीव, चर्म, रुधिर, मांस, बीज फल, कंद और मूल इन चौदह मल दोषों से रहित हो, ऐसा भोजन साधु को ग्रहण करना चाहिए।[6] श्रमण के उद्देश्य से बनाया गया भोजन औद्देशिक कहलाता है। अधःकर्म आदि के भेद से उसके सौलह भेद हैं। साधु को इसका त्याग करना चाहिए। कल्प-सूत्र में कहा है-प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के तीर्थ में सोलह प्रकार के उद्देश्य का परिहार करके

---

1. मू. आ. गा. 438, 2. वही गा. 439, 3. वही गा. 440, 4. भ. आ. गा. 1200 की वि. 5. मू. आ. गा. 421

6. णवकोडीपरिसुद्ध असण बादालदोसपरिहीव।
सजोजणाय हीणं पमाणसहिय विहिसुदिण्णं।। मू.अ.गा. 482
विगदिगाल विधूम छक्कारणसंजदु कमविसुद्ध।
जत्तासाधणमेत्तं चोछसमलविज्जदं भुजे।। वही गा. 483
णहरीमजतुअट्ठी कणकुडयपूयचम्मरुहिरमसाणि।
बीयफलकंद मूला छिण्णाणि मला चद्दसा होंति।। वही गा. 484

आहारादिक ग्रहण करना चाहिए।[1] प्रवचनसार के अनसुार समस्त हिंसा के निमित्तों से रहित आहार ही ग्रहण करने योग्य है।[2] टूटे या फूटे करछुल आदि से दिया गया आहार नहीं लेना चाहिए। मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र अंकुरित तथा कन्द तथा इनसे जो भोजन छू गया हो, ऐसा भोजन साधु को कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिस भोजन का रूप, रस, गन्ध बिगड गया हो, दुर्गन्ध युक्त, फफूंदीयुक्त, पुराना तथा जीव-जन्तुओं से युक्त भोजन किसी को नहीं देना चाहिए, न स्वयम् खाना चाहिए और न छूना चाहिए। जो भोजन उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से युक्त है, उसे नहीं खाना चाहिए।[3]

साधु को द्रव्य व भाव दोनों से प्रासुक वस्तु आहार में ग्रहण करनी चाहिए। जिस द्रव्य से जीव निकल गया है, वह द्रव्य प्रासुक है। प्रासुक बना होने पर भी यदि वह अपने लिए बना है तो अशुद्ध है जैसे-मछलियों के लिए जल में मादक वस्तु डालने से मछलियाँ ही विह्वल होती हैं, मेढक नहीं। इसीलिए पर के लिए बनाये गये भोजन आदि में ग्रहण करते हुए मुनि विशुद्ध रहते हैं अर्थात अध·कर्म आदि से दूषित नहीं होते[4], किन्तु अधःकर्म की ओर प्रवृत्ति वाले मुनि प्रासुक द्रव्य के ग्रहण करने पर भी कर्मबन्ध ग्रहण कर लेते है और शुद्ध आहार मिल जाता है तो वह आहार भी उनके लिए शुद्ध ही है।[5] अनगार धर्मामृत में इसी के समान भाव को इस प्रकार कहा है—द्रव्य से शुद्ध भी भोजन यदि भाव से अशुद्ध है तो वह भोजन अशुद्ध ही है, क्योंकि अशुद्ध भाव बन्ध के लिए और शुद्ध भाव मोक्ष के लिए होते हैं, यह निश्चित हैं। अतएव द्रव्य और भाव दोनों से ही शुद्ध भोजन मुनि को ग्रहण करना चाहिए।[6] जो अत्यन्त गरिष्ठ आहार है, इसको ग्रहण करना योग्य नहीं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जो नर उसका त्याग करते हैं वे धन्य हैं।[7] अतः इन्द्रियरूपी वीरों को यदि इष्ट, मिष्ट और अत्यन्त स्वादिष्ट आहार से अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया जाता है, तो मन को बाह्य पदार्थों में अपनी इच्छानुसार भ्रमण कराती है अर्थात् साधु का भोजन इतना सात्विक होना चाहिए जिससे शरीर रूप गाडी तो चलती रहे किन्तु इन्द्रियाँ बलवान न हो सके। अतएवं मध्यम मार्ग को अपनाकर जिससे इन्द्रियॉ वश में हों और कुमार्ग की ओर न जायें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।[8]

---

1. भ. आ.गा. 423 की वि. पृ. 326, 2. समस्त हिसासायतनशन्य एवाहारो युक्ताहार। प्रवचनसार गा. 229, 3 भ. आ. गा. 1200 की वि., 4. मू. आ. गा. 485 - 486
5 आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधाओं भणिओ।
सुद्ध गये समाणों आधाकम्मेवि सो सुद्धो ।।मू. आ.।।गा. 487
6. द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्धया प्रदूष्यते।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धोमोक्षाव निश्चित·।।5/67।।अ.धर्मा.
7 क्रिया कोश, श्लोक 982
8. इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारेरूभटीकृता.।
यथेष्टामिन्द्रियभटा भ्रमयन्ति बहिर्मन·।।7/10।। अ. धर्मा.

आहार के दोष—उद्गम, उत्पादन, एषणा (अशन) संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण के भेद से आहार के मुख्य आठ दोष हैं, किन्तु इनमे से कुछ के अनेक उपभेद हैं। जैसे—

(1) उद्गम दोष— मूलाचार में उद्गम दोष के सौलह भेद कहे हैं। वे भेद इस प्रकार हैं—औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्रादुष्कार, क्रीत प्रामृष्य, परावर्त, अभिघट, उद्-भिन्न, मलारोहण, आद्देद्य और अनिसृष्ट दोष।[1]

1. औद्देशिक—श्रमणों के उद्देश्य से बनाये गये भोजनादि को औद्देशिक कहते हैं।[2] अधःकर्म आदि के भेद से यह सौलह प्रकार का है। मूलाचार के अनुसार-देवता या पाखण्डी अथवा दोनों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है, वह औद्देशिक है।[3] यह उद्देश्य, समोद्देश आदेश और समादेश के भेद चार प्रकार का है[4]—उद्देश—जो कोई भी आयेगा उन सभी को मैं दूँगा, इस उद्देश्य से बनाया गया भोजन उद्देश्य कहलाता है। समुद्देश -जो भी पाखण्ड़ी लोग आयेंगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा, इस उद्देश्य से बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। आदेश-जो कोई श्रमण अर्थात् आजीवक, तपसी, रक्तपट (बौद्धसाधु) परिव्राजक या छात्र आयेंगे उन सभी को मैं आहार दूँगा, इस प्रकार श्रमण के निमित्त से बनाया गया अन्न आदेश है। समादेश-जो कोई भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आयेंगे उन सभी को मैं आहार दूँगा, इस प्रकार के उद्देश्य से बनाया गया आहार समादेश कहलाता है।

2. अध्यधि—मुनियों के दान के लिये अपने निमित्त पकते हुए भोजन में जल या चावल का मिला देना अध्यधि दोष का दूसरा नाम साधिक भी है।[5]

3. पूतिकर्म—प्रासुक आहारादिक वस्तु सचित्तादि वस्तु से मिश्रित हो वह पूतिदोष है। अप्रासुक द्रव्य से मिश्रित प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्म दोष से युक्त है। यह चूल्हा, ओखली, कलछी, चम्मच और गन्ध के भेद से पाँच प्रकार का है।[6] अनगार धर्मामृत मे पूतिकर्म के दो प्रकार कहे हैं—अप्रासुक मिश्र और कल्पित।[7]

4. मिश्र—पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयत मुनि को दिया हुआ सिद्ध अन्न मिश्र दोष युक्त है।[8]

---

1. आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झेय पूदिमिससे य।
   ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे य।। मू. आ. गा 422
   पामिच्छे परियटटे अभिहडमुब्भिण्ण मालआरोहे।
   अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे।। वही गा. 423
2. भ. आ. गा. 423 की वि. पृ. 327
3. मू. आ गा. 425
4. जावदिय उद्देसो पासडोत्ति य हवे समुद्देसो।
   समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति।। मू. आ. 426 वृत्ति सहित
5. मू. आ. गा. 427, अ. धर्मा 5/8
6. अप्पासुएण मिस्स पासुयदव्वं तु पूदिकम्म तु।
   चुल्ली उक्खलिदव्वी भायणाम धत्ति पचविहं।। मू. आ. गा. 428
7. अ. धर्मा. 5/9
8. पासंडेहि य सद्ध सागरेहिं य जदण्णुद्दिसिय।
   दादुमिदि संजदाण सिद्ध मिस्स वियाणहि।। मू. आ. गा. 429

5. स्थापित—पकाने वाले बर्तन से अन्य बर्तन मे निकाल कर अपने या अन्य घर में रखना स्थापित दोष है।[1]

6. बलि—यज्ञ, नागादि देवताओं के लिए जो बलि (पूजन) किया हो उससे शेष बचा भोजन बलि दोष युक्त है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म (सावद्य पूजन) करना बलिदोष है।[2]

7. प्राभृत[3]—इस दोष को प्रावर्तित दोष भी कहते हैं, क्योंकि इसमें काल और वृद्धि से परिवर्तन किया जाता हैं बादर और सूक्ष्म के भेद से प्राभृत दो प्रकार का है। काल की वृद्धि और हानि के अपेक्षा इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं।

दिवस, पक्ष, महीना और वर्ष का परावर्तन करके आहार देने से बादर दोष दो प्रकार का है जैसे—शुक्ल अष्टमी में जो आहार देने का संकल्प था उसका अपकर्षण (घटाकर) करके शुक्ल पञ्चमी को देना तथा शुक्ल अष्टमी को देना आदि।

इसी प्रकार पूर्व, अपर, मध्य की बेलाका परावर्तन करके देने से सूक्ष्म दोष के भी दो प्रकार हैं—जैसे-अपराह्न बेला मे देने योग्य ऐसा कोई मंगल प्रकरण था, किन्तु संयत के आगमन आदि के कारण से उस काल का अपकर्षण करके पूर्वाह्न बेला मे आहार दे देना, वैसे ही मध्याह्न में देना था, किन्तु पूर्वान्ह अथवा अपरान्ह में दे देना। इस प्रकार सूक्ष्म प्राभृत दोष काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है।

8. प्रादुष्कार[4]—संक्रमण और प्राशन के भेद से प्रादुष्कार नामक दोष दो प्रकार का होता है। बर्तन या भोजन आदि को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना संक्रमण है तथा बर्तनों को भस्मादि से मांजना या जल आदि से धोना अथवा बर्तन आदि को फैलाकर रखना प्रकाशन है। इसी प्रकार मण्डप आदि खोल देना, दीवाल आदि को लीप पोतकर साफ करना, दीपक जलाना, ये सब प्रादुष्कार नाम का दोष है। अनगार धर्मामृत में प्रादुष्कार के भेदों को इस प्रकार कहा गया है—साधु के घर में आ जाने पर भोजन पात्रों को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना संक्रम नामक प्रादुष्कार दोष है तथा साधु के घर आ जाने पर चटाई, कपाट, पर्दा आदि हटाना, बर्तनों को मांजना, दीपक जलाना आदि प्रकाश प्रादुष्कार दोष है।[5]

---

1. पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणाह्मिपक्खविय।
   सघरे वा परघरे वाणिहिदं ठविद वियाणाहि।। वही गा. 430
2. मू. आ. गा 431
3. वही गा. 432-433 वृत्ति सहित
4. पादुक्कारो दुविहो सकमण पयासणा यो धव्वो।
   भायणभोयणदीण मडवविरलादिय कमसो।। मू. आ. 434 वृत्ति सहित
5. अन. धर्मा. 5/13

9. क्रीततर–क्रीत दोष द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों के भी पुनः दो भेद है-स्व व पर। संयमी के भिक्षार्थ प्रवेश करने पर गाय आदि देकर बदले में भोजन लेकर साधु को देना द्रव्य क्रीत है तथा प्रज्ञप्ति आदि विद्या या चेटकादि मन्त्रों के बदले मे आहार लेकर साधु को देना भावक्रीत दोष है।[1]

10. प्रामृष्य–ओदन आदि भोजन तथा रोटी आदि वस्तु को कर्जरूप मे दूसरे के यहाँ से लाकर देना प्रामृष्य दोष है। इसे लघु ऋण भी कहा जाता है। इसके दो भेद हैं–ब्याज सहित और ब्याज रहित।

इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम करना पड़ता है। अतः यह दोष है।[2] अनगार धर्मामृत में कहा है–अन्य जन से जब अन्न आदि उधार लिया जाता है तो माप कर लिया जाता है, इसी से इस दोष को प्रामिष्य कहते हैं।[3]

11. परावर्त–संयत मुनियों को देने के लिए ब्रीहि के भात को देकर उससे शालि के भात आदि को लाना परावर्त दोष है। अर्थात् रोटी आदि को देकर साधु के हेतु जो शालि का भात लाया जाता है। यह परिवर्त (परावर्त) दोष है।[4]

12. अभिघट[5]–पंक्ति रहित घरों से लाया गया भोजन मुनि के लिए अभिघट दोष से युक्त है। क्योंकि जहाँ कहीं से आने में ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती है। देशाभिघट और सर्वाभिघट के भेद से यह दो प्रकार का है। इनमें से देशाभिघट आचिन्न और अनाचिन्न के भेद से दो प्रकार का है। सरल पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आई हुई वस्तु आचिन्न (ग्रहण के योग्य) है, तथा तीन या सात घरों के अतिरिक्त घरों से आयी वस्तु अनाचिन्न (ग्रहण के अयोगय) है।

सर्वाभिघट दोष स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का है। पूर्व और ऊपर मुहल्ले से वस्तु का लाना प्रथम स्वग्राम नामक सर्वाभिघट दोष है। इसी प्रकार शेष तीन भी जान लेना चाहिए। अर्थात् परग्राम से लाकर स्वग्राम में देना, स्वदेश से स्वग्राम में, परदेश से लाकर स्वग्राम अथवा स्वदेश मे देना।

13. उद्भिन्न–ढके हुए अथवा लाख आदि से बन्द हुए औषधि , घी, शक्कर आदि को उन्हें उसी समय खोलकर देना उद्भिन्न दोष है।[6]

14. मालारोहण–नसेनी अर्थात् काठ की सीढ़ी के द्वारा चढ़कर रखी हुई पुआ, मंडक, लडडू आदि वस्तु को लाकर देना मालारोहण नामक दोष हैं।[7]

15. आछेद्य–संयत को भिक्षा के लिए आते देखकर राजा या चोर आदि

---

1. कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपर दुविहं।
सच्चितादी दव्व विज्जामंतादि भावं च।। मु. आ. गा. 435
2. मू. आ. गा. 436, 3. अं. धर्मा. 5/14
4. बीहीकूरादिहि य सालीकूरादिय तु ज गाहिद।
दातुमिति सजदाणं परियट्ट होदि णायव्वं।। मू. आ. गा. 437
5. मू. आ. गा. 438-440 वृत्ति सहित, 6. मू. आ. गा. 441 अं. धर्मा 5/16, 7. मू. आ. गा. 442

से डरकर जो जो उन्हें आहार दिया जाता है, वह आछेद्य दोष है, क्योंकि वह कुटुम्बियों को भयभीत करने वाला है।[1]

16. अनीशार्थ[2]—अनीश अर्थात् अप्रधान, अर्थ अर्थात् कारण है जो ओदनादिक भोज्य पदार्थ का, वह भोजन अनीशार्थ है। उस भोजन के ग्रहण करने में जो दोष है, वह भी अनीशार्थ है। यह ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है।

ईश्वर दोष के चार भेद हैं-सारक्ष, व्यक्त अव्यक्त और संघाटक। जो आरक्षों के साथ रहे वह **सारक्ष** है। वह यद्यपि दान देना चाहता है, फिर भी नहीं दे पाता, क्योंकि अन्य अमात्य, पुरोहित आदि विघ्न करते हैं। यदि ऐसा दान मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके अनीशार्थ ईश्वर का प्रथम भेद रूप है। **व्यक्त** अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी या बुद्धि से कार्य करने वाला व्यक्ताव्यक्त रूप पुरूष **संघाटक** है।

जिस दान का अप्रधान (अनीश्वर) पुरूष हेतु होता है, वह दान अनीश्वर अनीशार्थ है। यह व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक के भेद से तीन प्रकार का है। अनीश्वर दान आदि का स्वामी नहीं होता, किन्तु प्रेक्षापूर्वकारी अर्थात् बुद्धिमान के द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं, तो उनके **व्यक्त** अनीश्वर अनीशार्थ दोष होता है। अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिमान के द्वारा दिया गया आहार, मुनि के लेने पर अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। इसी प्रकार **संघाटक** अर्थात् व्यक्ताव्यक्त संघाटक अनीश्वर नामक अनीशार्थ है।

(2) उत्पादन दोष—मार्ग विरूद्ध जिन क्रियाओं से भोजन आदि बनाये जाते हैं, वह उत्पादन दोष 16 प्रकार का है:— वे इस प्रकार हैं—धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वपीनक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग और मूल कर्म।[3]

1. धात्री दोष[4]—बालक का पालन-पोषण करने वाली धात्री कहलाती है। मार्जन धात्री, मण्डन धात्री, क्रीड़नधात्री, क्षीरधात्री और अम्बधात्री के भेद से धात्री के पांच भेद हैं-**मार्जन धात्री**-बालक को स्नान कराने वाली, **मण्डन धात्री**-तिलक आदि तथा आभूषण आदि से बालक को भूषित करने वाली, **क्रीड़न धात्री**—बालक को खेल खिलाने वाली, **क्षीर धात्री**-बालक को दूध पिलाने वाली, **अम्ब धात्री**-जन्म देने वाली अथवा सुलाने वाली। जो साधु इन पॉच प्रकार की धात्री की क्रिया करके आहार आदि उत्पन्न करते हैं, उनको धात्री नाम का दोष लगता है।

2. दूत—स्वग्राम से परग्राम में स्वदेश से परदेश में, जल, स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धी के वचनों को ले जाना, दूतदोष होता है।[5]

---

1. मू. आ. गा. 443, 2. मू. आ.गा. 444
3. भ. आ. 232 की वि. पृ. 246 मू. आ. गा. 445-446
4. भ. आ. गा. 232 की वि. , मू. आ. 447
5. जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे।
   संबधिवयणणयणं दूढीदोषो हवादि एसो।। मू. आ. गा. 448

3. निमित्त—व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भूमि, अंतरिक्ष और स्वपन के भेद से निमित्त दोष आठ प्रकार का है।[1] इन आठ निमित्तों के द्वारा श्रावकों को शुभ-अशुभ बतलाकर बदले मे उनके द्वारा दिया गया आहार मुनि के ग्रहण करने पर निमित्त नाम का उत्पादन दोष होता है।[2]

4. आजीव—जाति, कुल, शिल्प, तप तथा ईश्वरता के द्वारा जो आजीविका चलायी जाती है, वह आजीव दोष है।[3]

5. वपीनक—कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, श्रमण, पाखण्डी और कौआ, इन्हें दान देने से पुण्य होता है अथवा नहीं, इस प्रकार दाता के पूछने पर 'पुण्य होता है' इस प्रकार यदि मुनि दाता के अनुकूल वचन बोलता है और दाता प्रसन्न होकर उन्हें आहार देता है ओर मुनि उसे ग्रहण कर लेते हैं तो यह वपीनक नामक उत्पादन दोष है।[4]

6. चिकित्सा—कौमार, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतन्त्र, शालाकिक, और शल्य इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा जो मुनि ग्रहस्थ को उपकार करके उनसे यदि आहार आदि लेते हैं तो उनके यह आठ प्रकार का चिकित्सा नाम का दोष होता है।[5]

7-10. क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से, आहार उत्पन कराना यह चार प्रकार का उतपादन दोष है।[6] उदाहरणार्थ-हस्तिकल्प नाम के पत्तन नगर मे किसी साधु ने क्रोध करके आहार का उत्पादन कराकर ग्रहण किया। बनारस मे किसी साधु ने माया करके आहार ग्रहण किया तथा राशियान देश मे किसी संयत ने लोभ दिखाकर आहार ग्रहव किया।[7]

11. पूर्व संस्तुति-तुम दानपति हो अथवा यशस्वी हो इस प्रकार दाता के समक्ष उसकी प्रशंसा करना ओर उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व संस्तुति नाम का दोष है।[8]

12. पश्चात् संस्तुति—आहार आदि दान ग्रहण करनेपर पीछे प्रशंसा करना, पश्चात् संस्तुति नामक दोष है।[9]

13. विद्या—*जो साधित सिद्ध है, वह विद्या है, उस विद्या के माहात्म्य से आहार* उत्पन्न कराना विद्या नामक उत्पादन दोष है।[10]

14. मंत्र—जो मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाताहै, वह पठित सिद्ध मंत्र है। उस मंत्र की आशा देकर और उसकी महिमा कहकर जो साधु आहार ग्रहण करता है, उसके मंत्र दोष होता है।[11]

---

1. भ. आ गा 232 वि., मू. आ.गा. 449, 2. मू. आ.गा. 449 की वृत्ति
3. वही गा. 450, 4. वही गा. 451 सवृत्ति, 5. मू. आ. गा. 452
6. को धेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो।
   उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वों।। मू. आ.गा.453
7. दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति।
   पुव्वीसथुदि दोसो विस्सरिदं बोधवं चावि।। मू.आ. गा. 454
8. वही, गा. 455
9. वही, गा. 456
10. वही, गा. 457
11. सिद्धे पढिदे में तस्य य आसापदाणकरणेण।
    तरस य माहाप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु।। मू. आ. गा. 458

15. चूर्ण—नैत्रों के लिए अंजन चूर्ण और शरीर को भूषित करने वाले चूर्ण इन चूर्णो से आहार उत्पन्न करना चूर्ण दोष हैं।[1]

16. मूलकर्म—अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए जनों का संयोग कराना मूलकर्म दोष है।[2]

(3) एषणा (अशन) दोष— शंकित, मृक्षित्त, निक्षिप्त, संव्यवहरण (साधारण), दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और व्यक्त के भेद से अशन दोष इस प्रकार है।[3]

1. शंकित—अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चार प्रकार के आहारों के विषय में, अध्यात्म अर्थात् आगम में इन्हें मेरे योग्य कहा है या अयोग्य, इस प्रकार कासंदेह करते हुए, उस संदिग्ध आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है।[4]

2. म्रक्षित—चिकनाई युक्त हाथ अथवा बर्तन से या कलछी, चम्मच से दिया गया भोजन म्रक्षित है, मुनि को सदैव इसका परिहार करना चाहिए, क्योंकि इसमें संमूर्छन आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना का दोष देखा जाता है।[5]

3. निक्षिप्त— सचित्त, पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति तथा और त्रस जीव-इनके ऊपर रखा हुआ जो आहारादि है, वह छह भेद रूप निक्षिप्त कहलाता है। ऐसे आहार को लेना निक्षिप्त दोष है।[6]

4 पिहित—जो सचित्त (अप्रासुक) वस्तु से अथवा अचित्त (प्रासुक), किन्तु भारी वस्तु से ढका हुआ है, उसे हटाकर जो आहार दिया जाता है और मुनि उसे ग्रहण कर लेते हैं तो वह पिहित दोष है।[7]

5. संव्यवहरण—यदि दान देने के लिए वस्त्र या बर्तन आदि को खींचकर बिना देखे भोजन आदि मुनि को दिया जाता है और वह मुनि उस आहार को ग्रहण कर लेते हैं, तो उनके लिए संव्यवहरण दोष होता है।[8] इस दोष को साधारण दोष भी कहते हैं।[9]

6. दायक—धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूचित सहित, नपुंसक,

---

1 णेत्तस्सजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं।
चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवादि एसो।। मू. आ. गा. 460

2 अवसाण वसियरणं संजोजयण च विप्पजुत्ताण।
भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा।। वही, गा 461

3 वही, 462, अं. धर्मा. 5/28

4. वही, गा. 463; वही 5/29

5 वही, गा. 464; वही 5/30

6. वही, गा. 465; वही 5/30

7 सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिद च।
त छडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो।। मू. आ गा. 466

8. मू. आ.गा. 467.

9. अं. धर्मा. 5/33

पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छित, वमन वाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, खाती हुई, गर्भिणी, अंधी, किसी के आड मे खड़ी हुई, बैठी हुई, ऊँचे अथवा नीचे पर खड़ी हुई स्त्री के द्वारा दिया गया आहार दायक दोष युक्त है। इसी प्रकार फूंकना, जलाना, सारण करना (अग्नि में लकड़ियों को डालना), ढकना, बुझाना, लकड़ी आदि को हटाना या पीटना इत्यादि अग्नि का कार्य करके आहार देना भी दायक दोष है तथा लीपना, धोना करके तथा दूध पीते हुए बालक को छोड़कर इत्यादि कार्य करके आकर आहार देना दायक दोष है।[1]

7. **उन्मिश्र**—पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचो से मिश्रित हुआ आहार उन्मिश्र दोष युक्त होता है।[2]

8. **अपरिणत**—तिलोदक (तिल का धोवन), अविध्वस्त अर्थात् अपरिणत जल को ग्रहण करना अपरिणत दोष है।[3]

9. **लिप्त**—गेरू, हरिताल, सेलखड़ी, मनःशिला, गीलाआटा, कोपल आदि सहित जल-इन वस्तुओं से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार देना लिप्त दोष है।[4]

10. **व्यक्त**—हाथ की अंजुली पुट से बहुत सा आहार गिराते हुए अथवा गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर तथा भोजन करते समय गिराकर आहार ग्रहण करना व्यक्त दोष है।[5] अनगार धर्मामृत में छोटित (त्यक्त) दोष के 5 भेद कहे हैं[6]— 1. संयमी के द्वारा बहुत सा अन्न नीचे गिराते हुए थोड़ा खाना, 2. परोसने वाले दाता के द्वारा तक्र आदि देते हुए यदि गिरता हो तो ऐसी अवस्था में ग्रहण करना, 3. मुनि के हाथ से तक्र आदि गिरने पर भी भोजन करना, 4. दोनों हाथों की हथेलियों को अलग करके भोजन करना तथा 5. अरूचिकर भोजन करना छोटित दोष है।

संयोजना आदि चार दोष—

1. **संयोजना**—भोजन और पानी को परस्पर मिलाना संयोजना दोष है। अर्थात् परस्पर विरूद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष हे। जैसे—ठण्डा भोजन उष्ण जल से मिला देना अथवा ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना।[7]

2. **प्रमाण**— अतिमात्र आहार लेना प्रमाण दोष है। मुनि को उदर के दो

---

1. वही, गा. 468-471
2. वही, गा. 472
3. वही, गा. 473
4. गेरूप हरिढालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण।
   सपबालोदणलेवे ष त देयं करभायणो लित्तं।। मूल. आ. गा. 474
5. मू. आ. गा. 475
6. भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात्।
   गलाद्वित्वा करो व्यक्तत्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत्।। अं. धर्मा. /5/317
7. मू. आ. गा. 476; वृत्ति सहित

भाग दाल-शाक सहित भात आदि से पूर्ण करने चाहिए तथा तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिए और चौथा भाग खाली रखना चाहिए। यह प्रमाणभूत आहार कहलाता है, इसका उल्लंघन करने पर अर्थात् प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण करने पर प्रमाण (अतिमात्र) नाम का दोष होता है।[1]

3. अंगार–जो गृद्धि (लम्पटता) युक्त होता हुआ आहार ग्रहण करता है, वह अंगार दोष से युक्त है।

4. धूम–जो निन्दा करते हुए अर्थात् यह भोजन खराब है, मुझे अच्छा नहीं लगता' इस प्रकार कहते हुए आहार ग्रहण करता है उसके धूम दोष होता है, क्योंकि इसके अन्तरंग में संक्लेश देखा जाता है।[2]

अधःकर्म दोष–यति को भोजनादि के लिए छह काय के जीवों को बाधा देना अथवा ऐसे कारण से उत्पन्न भोजनादि आधाकर्म कहे जाते हैं।[3] मूलाचार में अधःकर्म को इन 46 दोषों से पृथक तथा आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि से बाह्य महादोषरूप कहा गया है।[4] यह दोष पाँच सूनाओं[5] से युक्त होने के कारण अधःकर्म कहा जाता है, क्योंकि इन सूनाओं से कूटना, पीसना रसोई करना, जल भरना और बुहारी देना, ये हिंसा युक्त क्रियायें होती हैं। जो ऐसा आहार ग्रहण करता है, वह श्रावक बनने योग्य नहीं है।[6] अतः साधु को इन 46 दोषों से तथा अधःकर्म से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।

भोजन के योग्य काल[7]–मुनि को , भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल इन तीन दृष्टियों से अपने आहार का समय जानना चाहिए।

भिक्षाकाल–अमुक मासों में, ग्राम नगर आदि में अमुक समय भोजन लेता है अथवा अमुक कुल का या मुहल्ले का, अमुक समय का भोजन का है। इस प्रकार इच्छा के प्रमाण आदि से भिक्षा का काल जानना चाहिए।

बुभुक्षाकाल–मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है, इस प्रकार अपने शरीर की स्थिति की परीक्षा करनी चाहिए।

अवग्रहकाल–मैने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकार का आहार नहीं लूंगा और आज मेरा नियम है–इस प्रकार विचार करना चाहिए।

मूलाचार मे आहार काल के विषय मे कहा है–सूर्य उदय के तीन घड़ी बाद

---

1. वही, गा. 476; वही 5/38
2. वही, गा. 477; वहीं 5/36
3. वही, गा. 477; वही, 5/37
4. भ आ. पृ. 248
5. मू. आ. गा. 422 की टीका
6. कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं विच्च ताहिं जीबरासी से मरदि।। मू. आ. गा. 928
7. वही, गा. 929, 8. भ. आ. गा. 1200 की वि0, प. 607-608, 9. मू. आ. गा. 492

से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के मध्य में आहार का काल है। उस आहार के काल में तीन मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य आचरण, दो मुहूर्त तक भोजन करना मध्यम आचरण तथा एक मुहूर्त तक भोजन करना उत्कृष्ट आचरण है।

मुनि को केवल प्रकाश में ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि रात्रि-भोजन से त्रस और स्थावर जीवों का घात होताहै रात्रि में उनको देखना कठिन है। देने वाले के आने का मार्ग, अन्न रखने का स्थान, उच्छिष्ट भोजन के गिरने का स्थान, दिया जाने वाला आहार योग्य है अथवा नहीं। इन सबको नहीं देखा जा सकताहै। रात्रि त्याग से आठ प्रवचन माता के पालन में मलिनता आती है।

रात्रि में आहार करने पर हिंसा आदि पाँच पापों की प्राप्ति अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप तो नहीं हुए। इसके अतिरिक्त स्वयं भी ठूंठ, सर्प कण्टक, आदि से विपत्तियाँ आ सकती है।[1] अतः मुनि को आहारार्थ रात्रि में कभी भी नहीं निकलना चाहिए।

—कुंवर बालगोविन्द, बिजनौर।

– कलिकालविषैं तपस्वी मृगवत् इधर उधर तैं भयवान होय वन तैं नगर के समीप बसैं हैं, यजु महा खेदकारी कार्य भया है। यहां नगर समीप ही रहना निषेध्या, तो नगर विषैं रहना तो निषिद्ध भया ही।

– चेला चेली पुस्तकनि करि मूढ़ सन्तुष्ट हो है, भ्रान्ति रहित ऐसा ज्ञानी उसे बंध का कारण जानता संता इनकरि लज्जायमान हो है।

– पापकरि मोहित भई है बुद्धि जिनकी ऐसे जे जीव जिनवरनि का लिंग धारकर पाप करै हैं, ते पाप मूर्ति मोक्षमार्गविषैं भ्रष्ट जानने।

—मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृ. 222

1. भ आ गा. 1179-1180; मू. आ. गा. 295-296

रावण का द्वन्द्व युद्ध और जिन-पूजा

—जस्टिस एम. एल. जैन

आठवीं सदी के अपभ्रंश भाषा के जैन कवि स्वयंभू ने अपने महाकाव्य पउम चरिउ मे कल्पना का नया संसार खड़ा कर अपने ही ढंग से एक विभिन्न रूप में राम कथा की रचना की है। ताज्जुब है कि इस अमर काव्य की कथा वस्तु और काव्य कला की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना अपेक्षित लगता है। कालिदास अपने उपमा अलंकार संयोजन के लिए मशहूर हैं किंतु पउम चरिउ में पद-पद पर अनौखी और अभूतपूर्व उपमा अलंकारों का एक अपना अलग ही आलम है।

तो, आइए,, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी से 1957 में प्रकाशित श्री देवेन्द्रकुमार द्वारा संपादित अनुवादित पांच भागों के पउम चरिउ के प्रथम भाग के विद्याधर काण्ड की बारहवीं व तेरहवीं संधियों के दो प्रसंगों का पौराणिक, धार्मिक व साहित्यिक काव्य रस का तनिक रसास्वादन किया जाए।

प्रसंग यों है कि एक दिन अपने दरबारियों से रावण ने पूछा, 'बताओ मनुष्य और विद्याधरों में अब कौन मेरा शत्रु है ?' इस पर किसी दरबारी ने कहा—

किक्किंध पुरिहिं करि पवर भुउ
णामेण बालि सूररव - सुउ।
जा पारिहच्छि मइं दिट्ठ तहों।
सा तिहुयणे थउ अण्णहों णरहों।
रह वाहेवि अरूणु हय हणेंवि
पुणु जा जोयणु विण पावइ।
ता मेरुहि भमेंवि जिणवरु णवेंवि
तहिं जें पडीवउ आवइ।

(किष्किंधापुर—नरेश सूर्यरव के पुत्र बालि में मैंने जैसा वेग देखा, वैसा तीनों लोकों में किसी भी व्यक्ति में नहीं देखा। उसके बाहु हाथी के सूंड के समान प्रचंड हैं। वह अपने अरूण रथ को हांककर घोड़ों को ताडित कर आंखों के पलक झपने के पहले ही मेरू कीप्रदक्षिणा और जिनवर की वंदना कर अपने घर लौट आता है।)

यह सुनकर कुछ समय पश्चात् रावण ने बालि केपास दूत भेजा और कहलवाया कि 20 पीढियां हुईं तुम्हारी हमारी दोस्ती चली आ रही है, अहंकार

छोड़कर हमसे मिलो। परंतु इस संदेश पर बालि ने कोई ध्यान नहीं दिया और दूत ने लौटकर रावण को बताया कि तिण समउ विण गणइ वालि पई (बालि तुम्हें तिनके के बराबर भी नहीं समझता)।

यह सुनकर रावण बालि का मान मर्दन करने के लिए तुरंत वायु मार्ग से अपने योद्धाओं सहित वहां जा धमका और उधर बालि भी सेनाओं के साथ सामने आ डटा। युद्ध में दोनों सेनाएं भिड़ने ही वाली थीं कि किसी विपुलमति मंत्री ने कहा कि आप दोनों को सोचना चाहिए कि स्वजनों के क्षय हो जाने पर राज्य किसका होगा। इस पर रावण व बालि दोनों ही सेनाओं की लड़ाई बंद करने पर रजामंद हो गए और दोनों का द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ हुआ।

रावण ने सर्पिणी विद्या छोड़ी तो बालि ने गरूड विद्या का प्रयोग किया इस पर रावण ने नारायणी विद्या छोड़ी, वह गदा, शंख, चक्र, सारंग औरचार हाथ धारण कर गरूड़ासन पर जाने लगी, तो बालि ने माहेश्वरी विद्या का प्रयोग किया। कराल कंकाल वह, हाथ में त्रिशूल, सिर पर सांप, चंद्रमा और गंगा धारण किए हुए दौड़ी। रावण के पास उसका जवाबी अस्त्र नहीं था, हार गया। बालि ने रावण को रथसहित पकड़ कर सौ बार घुमाकर हथेली पर ऐसे उठा लिया—

णं कुंजर - करेंण कवलु पवरू
णं बाहुबलीसें चक्कहरू

(मानों हाथी की सूंड ने अपना कौर उठा लिया हो या बाहुबलि ने भरत चक्रवर्ती को उठा लिया हो।)

इसके बाद वह सुग्रीव को राज्य दे कर गगनचंद नाम के मुनि के पास गया और मुनि दीक्षा लेकर तप करने लगा। तत्काल उसे ऋद्धियां उत्पन्न हो गईं और वह कैलाश पर्वत के शिखर पर जाकर वहां स्थित आतापनी शिला पर बैठकर शाश्वत तपस्या में लीन हो गया।

एक मर्तबा जब रावण नित्यलोक नगर के विद्याधर की बेटी रत्नावली से विवाह कर लौट रहा था और महर्षि बालि के ऊपर होकर गुजरने वाला था कि—

महरिसि -तव-तेएं थिउ विमाणु
णं दुक्किय कम्मवसेण दाणु।
णं सुक्के रवीलिउ मेह जालु
णं पाउसेण कोइल - वमालु
णं दूसामिऐंण कुडुम्ब वित्तु
णं मच्छें धरिउ महावयंतु
णं कंचन सेले पवण गमणु
णं दाण पहवें णीय भवणु
णीसद्दउ हूयउ किंकिंणीउ
णं सुरए समत्तएं कामिणीउ

विहडइ थरहरइ ण टुककइ उप्परि वालि भडारहों
छुडु छुडु परिणियउ कलत्तु व रइ – दइयहों वडाराहों

(जैसे पाप कर्म के वश से दान, शुक्र से मेघजाल वर्षा से कोयल का कलरव, अमित दोषों से कुटुंब का धन, मच्छ से महाकमल, सुमेरू पर्वत से पवन के वेग, दान के प्रभाव से नीति-वचन, वैसे ही भट्टारक बालि के प्रभाव से रावण का विमान रूक गया, उसकी किंकिणियां ऐसे निशब्द हो उठीं मानों सुरति समाप्त होने पर कामिनी मूक हो गई हो। यह बालि महर्षि के ऊपर वैसे ही नहीं जा सक रहा था जैसे नव विवाहिता पत्नी अपने सयाने कामुक पति के पास नहीं जाती।)

इसके बाद रावण का विमान नीचे पर्वत पर गिर पड़ा तो कुपित रावण ने कैलाश पर्वत को खोद कर उठा लिया। इस पर पाताल लोक में धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ तो वह ऊपर मृत्यु लोक मे आया और उसने ज्योंहि मुनिराज बालि को नमन किया त्यों ही कैलाश पर्वत नीचे धंसने लगा और रावण कछुए की भांति पिचकने लगा और जोर से चिल्ला पड़ा तो ऐरावत के कुंभस्थल के समान स्तनों वाली रावण की रानियां, केयूर, हार, नूपुर, कंकण वाले अपने दोनों करों को खनखनाकर धरणेन्द्र से रावण के जीवन की भीख मांगने लगीं।,इस पर द्रवित होकर धरणेन्द्र ने पर्वत को थोड़ा उठाया तो रावण बाहर ऐसे निकला जैसे सिर, हाथ, पाँव समेटकर कछुआ ही पाताल लोक से निकला हो। फिर तो वह सीधे महामुनि बालि के निकट जाकर उनकी स्तुति करने लगा।

इसके बाद रावण भरत द्वारा निर्मित जैन मंदिरों के दर्शन करने के लिए गया और जिन देव की पूजा की। उसकी वह पूजा

फल फुल्ल समद्धि वणासइ व्व
णर दड्ड धूब रवल कुट्टणि व्व
वहु दीव समुद्दन्तर महि व्व
पेल्लिय - वलि णारायण -मइ व्व
घंटारव मुहलिय गय घड व्व
मणिरयण समुज्जल अहिं -फड व्व
ण्हाणड्ड वेस केसावलि व्व
गन्धुक्कड कुसुमिय पाडलि व्व

(वनस्पति की तरह फल फूलों से समृद्ध थी, महाटवी की तरह सावय (श्वापद और श्रावकों) से घिरी हुई थी। दुष्ट कुट्टनी की तरह नरों से दग्ध और कंपित, समुद्र के बीच की धरती की तरह हुत दीप (दिया और द्वीप) वाली, नारायण की बुद्धि की तरह बलि (पूजा की सामग्री) को प्रेरित करने वाली, गजघटा की तरह घंटारव से मुखरित, सांप के फन की तरह मणि और रत्नों से समुज्ज्वल, वेश्या के बालों की तरह स्नान से सहित पाटल पुष्प की तरह गंध से उत्कट और कुसुमित थीं।)

जाहिर है कि यह चिर परिचित भरत-बाबहुली युद्ध तथा कमठ के जीव शम्बर व पार्श्वनाथ धरणेन्द्र के कथानकों का विचित्र रूपान्तरण है। विद्याओं के स्वरूपों के आधार नागराज, गरूड, विष्णु और शिव के रूपों के स्वरूप है और धरणेन्द्र शेषनाग का। जिन पूजा की उपमा में विलासिनी, कुट्टनी, सांप व वेश्या के उपमानों का प्रयोग किया गया है। यह स्वयभू का अपना अलग कला-कौशल है। सारे काव्य को आद्योपान्त पढा जाय तो रामकथा का नया ही रूप सामने आता है। इस महाकाव्य का प्रकाशन सबसे पहले भारतीय विद्या भवन मुंबई से हुआ था। श्री देवेन्द्र कुमार जैन ने अपने 1957 के सस्करण में "दो शब्द" मे लिखा कि 'राम' भारतीय जन मानस की अभिव्यक्ति का लोकप्रिय साधन रहे है, देश मे जब कोई नया विचार संप्रदाय या बोली आई, तो उसने रामकथा के पट पर ही अपने को अकित किया राम कथा पुरानी बनी रही, पर उसकी ओट मे कितनी ही नवीनता साहित्य के वातायन से नवजीवन तक पहुचती रही।"

—मदाकिनी ऐन्क्लेव
नई दिल्ली

वीर सेवा मंदिर कार्यालय में दूरभाष 3250522 पर संपर्क कर सकते हैं।

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान— वीर सेवा मन्दिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-2

प्रकाशक— वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-2

राष्ट्रीयता— भारतीय

प्रकाशन अवधि— त्रैमासिक

सम्पादक— श्री पद्मचन्द शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

राष्ट्रीयता— भारतीय

स्वामित्व— वीर सेवा मन्दिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-2

मै भारतभूषण जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

भारतभूषण जैन
प्रकाशक

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्याय शालाओं एव मंदिरो की माग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एव समाचार प्रायः नही लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
दूरभाष : 3250522
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-50 किरण-2 अप्रैल–जून 97

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002,

दूरभाष : 3250522

श्री सम्मेद शिखरजी (पारसनाथ पर्वत)
पर पटना हाईकोर्ट की रांची बेंच का फैसला

अपने ऐतिहासिक फैसले १.७.६७ में न्यायमूर्ति श्री प्रसन्नकुमार देव ने व्यवस्था दी कि पारसनाथ पर्वत के पवित्र तीर्थ पर किसी एक ट्रस्ट अथवा समाज के किसी वर्ग का एकाधिकार नहीं है बल्कि यह तीर्थ समूचे जैन समाज का है। विद्वान जज ने मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन समाज की प्रतिनिधि फर्म आनन्दजी कल्याणजी अहमदाबाद के स्वामित्व एवं प्रबंधन के सभी दावे खारिज कर दिए।

जज महादेय ने दिगम्बर जैन यात्रियों की उस मांग को न्यायोचित ठहराया जिसमें यात्रियों की सुविधार्थ पर्वत पर धर्मशाला आदि का निर्माण किया जाना आवश्यक बताया गया था। विद्वान न्यायाधीश ने स्पष्ट किया कि इन कार्यों में मदद करना बिहार सरकार का दायित्व है।

विद्वान न्यायमूर्ति ने बिहार सरकार और आनन्दजी कल्याणजी के बीच हुए 1965 के अनुबंध को अवैध घोषित कर व्यवस्था दी कि बिहार में जमींदारी कानून लागू होनेसे यह पर्वत बिहार सरकार में निहित हो गया इस प्रकार मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाज/आनन्दजी कल्याणजी के मालिकाने हक के सभी दावे निरस्त हो गए। जज महोदय ने अपने निर्णय में यह स्पष्ट किया कि पर्वत पर सभी धर्म–आयतन जैन समाज के आधीन ही रहेंगे। उन्होंने प्रवीकॉसिल के उस फैसले का विशेष उल्लेख किया जिसके अनुसार प्राचीन सभी 21 टोंके (20 तीर्थंकरों की + एक गौतम गणधर की) दिगम्बर आम्नाय की हैं और चार नई टोंके (आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमनाथ व महावीर स्वामी व जल मंदिर श्वेताम्बर आम्नाय का है।

क्रमशः आवरण तीन पर

अनेकान्त

वर्ष ५०	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अप्रैल-जून
किरण-२	वी.नि.सं. २५२३ वि.सं. २०५४	१९९७

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै।
जाको जिनवाणी न सुहावै।।

वीतराग सो देव छोड़कर, देव-कुदेव मनावै।
कल्पलता दयालुता तजि, हिंसा इन्द्रायन बावे।। ऐसा०।।

रुच न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै।। ऐसा०।।

पर को विभव देख दुख होई, पर दुख देख लहावै।
धर्म हेतु इक दाम न खरचे, उपवन लक्ष बहावै।। ऐसा०।।

ज्यों गृह में संचे बहु अंध, त्यों बन हू में उपजावै।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै।। ऐसा०।।

आरंभ तज शठ मंत्र जंत्र करि, जन पै पूज्य कहावै।
धाम वाम तजि दासी राखै, बाहर मढ़ी बनावै।। ऐसा०।।

□

दिगम्बर-मुनि

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।

एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।

—परमोत्कृष्ट श्री जिनेन्द्र भगवान ने वस्त्र रहित दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र का जो उपदेश दिया है, वही एक मोक्ष का मार्ग है और अन्य सब अमार्ग है।

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिंहदि हत्तेसु।

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।

—यथा जात बालक के समान नग्न मुद्रा के धारक मुनि अपने हाथ में तिल-तुष मात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते। यदि वे थोड़ा बहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं।

जस्स परिग्गह गहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।

सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो।।

—जिस लिंग (वेष) में थोड़ा बहुत परिग्रह ग्रहण होता है वह निन्दनीय लिंग है। क्योंकि जिनागम में परिग्रह रहित को ही निर्दोष साधु माना गया है।

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।

णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

—जिनशासन में ऐसा कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो वह मोक्षप्राप्त नहीं कर सकता। एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, बाकी सब मिथ्यामार्ग हैं।

समयसार या समयपाहुड?

—ले. पद्मचन्द्र शास्त्री, 'संपादक'

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्दाचार्य ख्याति प्राप्त बहुश्रुत विद्वान माने गए हैं और उनकी गणना प्रमुख दिगम्बराचार्यों में है। उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है, इनमें पाहुडों की संख्या अधिक है। कहते हैं कि इन्होंने चौरासी पाहुडों की रचना की। उनमें कुछ ही पाहुड उपलब्ध हैं और वे पाहुड नाम से ही प्रसिद्ध हैं। 'समयपाहुड' उनका ऐसा ग्रंथ हैं जिसमें सभी पदार्थों के माध्यम से जीव को मुक्ति प्राप्त करने का उपाय बतलाया गया है।

यद्यपि 'समुपाहुड' के पठन—पाठन की परम्परा पहिले के उच्चकोटि के गिने चुने कुछ ही विद्वानों में रही, परन्तु वर्तमान में इसकी गाथाओं के पठन—पाठन के प्रचार का श्रेय श्रीकानजी भाई को प्राप्त है। आज स्थिति यह है कि हर व्यक्ति इसके स्वाध्याय के प्रति लालायित है। जहाँ हमें इसके स्वाध्याय के प्रति लोगों की रूचि तुष्टिदायक है, वहीं हमें कुत्रचित् इसके पठन—पाठन की विधि में अनेकान्त दृष्टि की अवहेलना किया जाना अनिष्ट भी है।

जो लोग 'समयसार' शब्द का आत्मा अर्थ करते हैं वे ही कुंदकुंद की **'सव्वणयपक्खरहिदो भणियो जो सो समयसारो।** (समयसार सर्वनय पक्षों से रहित है) गाथा की अवेहलना करते दिखते हैं। क्योंकि वे आत्मा की पहिचान में **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'** की उपेक्षा कर, केवल निश्चयनय द्वारा आत्मा के स्वरूप को बतलाने की चेष्टा करते हैं और व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ बतलाते है—अग्राह्य कहते हैं। जबकि आचार्य का उद्देश्य आत्मा को सभी नयों से अतिक्रान्त—सर्वनय निरपेक्ष बतलाना है। आचार्यों ने नय के प्रयोग में **'निरपेक्षनयोमिथ्या'** भी कहा है। जबकि कुछ लोग निश्चयनय का निरपेक्ष रूप से प्रयोग कर रहे हैं।

सोचना यह भी होगा कि ऐसे एकान्तवादियों के कथनानुसार यदि आचार्य को व्यवहरनय सर्वथा असत्यार्थ इष्ट होता तो वे कदापि ऐसे असत्यार्थ **व्यवहार नय से भेद-रूप में दर्शाए गए** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र के सेवन का उपदेश साधु को नहीं देते। उन्होंने कहा है—

"दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।।"

—(साधु को नित्य ही दर्शन—ज्ञान—चारित्र का सेवन करना चाहिए।) व्यवहार नय को असत्यार्थ बताने की जगह वे मात्र इतना ही कहते— **'ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणो जाणगो सुद्धो।"** —(ज्ञायक शुद्ध है उसके दर्शन—ज्ञान—चारित्र कुछ भी नहीं है।) परन्तु उन्होंने मात्र एक को ही न कहकर व्यवहार—निश्चय दोनों

की पुष्टि की है। इस सत्य कथन से मुख मोड़ना आचार्य और आगम दोनों का अपमान तो है ही, साथ ही अनेकान्तवाद पोषक जैनधर्म को भी एकान्त की खाई में ढकेलना है।

हम क्या कहें, कहाँ तक कहें? हम तो देख रहे हैं कि आगम की व्याख्या और मूलभाषा में बदलाव के साथ आगमों के मूलनामों में बदलाव की प्रक्रिया भी स्वीकृत की जाती रही है। हमारी जानकारी में तो 'समयपाहुड' का नाम भी 'समयसार' के रूप में प्रसिद्धि पा गया है। बदलाव की ऐसी प्रक्रियाओं को देखकर ऐसा भी संदेह होने लगा है कि कहीं जैनधर्म के स्वरूप में ही बदलाव न आ जाए?

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूलग्रंथ का नाम 'समयपाहुड' रखा है। उन्होंने ग्रन्थ के आद्यन्त की दोनों गाथाओं में इसके नाम का उल्लेख किया है–

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं'।। 1।।

–(मैं श्रुतकेवली द्वारा कथित इस समयपाहुड को कहूँगा)।

'जो समय पाहुडमिणं पढिदूण'।। 415।।

(जो इस 'समयपाहुड– को पढकर।)

ऐसी स्थिति में ग्रन्थ के मूल नाम में परिवर्तन होकर इसका नाम 'समय सार' कब से और क्यों हो गया? 'पाहुड' और 'सार' दोनों शब्द पर्यायवाची भी नहीं है। यदि दोनों शब्द पर्यायवाची होते तो कुन्दकुन्द के अन्य पाहुडों में भी 'पाहुड' के स्थान पर 'सार– हो जाना चाहिए था। और उस भांति 'दंसणपाहुड' को 'दंसणसार', 'सुत्तपाहुड' को 'सुत्तसार', 'बोधपाहुड को बोधसार', चरित्तपाहुड को चरित्तसार, भाव पाहुड को भावसार, मोक्खपाहुड को मोक्खसार, लिंगपाहुड को लिंगसार और सीलपाहुड को 'सीलसार' नाम हो जाना चाहिए था– जैसा कि नहीं हुआ। इसी भाँति आचार्य श्री गुणधर कृत 'कसायपाहुड' का नाम भी 'कसायसार' हो गया होता।

प्राकृतकोष 'पाइअसद्दमहण्णव' में पाहुड' शब्द के अर्थ इस भांति दिए हैं– 'जैन ग्रंथांशविशेष, परिच्छेद, अध्ययन, प्राभृत का भी एक अंश। इस प्रकार 'पाहुड' और 'सार' दोनों में कोई साम्य नहीं बैठता जो कि एक दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकें। फिर ये नाम परिवर्तन कैसे हुआ? यह विचारणीय है।

हमें स्मरण है कि पहिले कभी पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का अनुवाद कर उसे 'समीचीन धर्मशास्त्र' के नाम से छपवा दिया था– तब किसी ने बड़ा भारी विरोध किया था। जबकि स्वामी समन्तभद्र ने ग्रन्थ में स्वयं 'समीचीन धर्म' कहने की बात कही थी–

'देशयामि समीचीनं धर्म कर्म निवर्हणम्।'–पर 'समयपाहुड' में तो 'समयसार' नामकरण का कहीं प्रसंग ही नहीं आया। जहाँ भी 'समय' शब्द का उल्लेख है, वहाँ 'आगम, पदार्थ और काल के भाव में है। समय का अर्थ आत्मा है ऐसा कोष में भी शायद ही हो? फिर समय शब्द का अर्थ आत्मा कैसे किया जाने लगा?

टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने स्वयं ही संस्कृत टीका में 'समयप्राभृत' को 'आगम' कहा है—

'शास्त्रमिदमधीत्य' (इस शास्त्र को पढ़कर) इसी भांति जयसेनाचार्य ने भी "समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पठित्वा' (समय प्राभृत नामक इस शास्त्र को पढ़कर) कहकर इसे शास्त्र कहा है— आत्मा नहीं कहा। 'पढिदूण' शब्द से तो यह और भी स्पष्ट होता है कि यह शास्त्र ही है और उसे ही पढ़ा जाता है। आत्मा को पढ़ा नहीं जाता उसकी अनुभूति मात्र (वह भी ऊँची अवस्था में जाकर) की जा सकती है।

कालान्तर परम्परा में कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने प्राकृत ग्रन्थ समयपाहुड पर गाथाओं की संस्कृत में टीका लिखी और संस्कृत में स्वतंत्र कलश भी लिखे। उन्होंने मंगलाचरण के प्रथम कलश में 'नमः समयसाराय' लिखकर उसे —'चित्स्वभावाय' से विशिष्ट कर दिया। इस भाँति वह शास्त्र न होकर चेतन मात्र हो गया। ऐसा सब उनके भाव में संस्कृत व्युत्पत्ति'सम्यक्प्रकारेण— स्वगुणपर्यायान् गच्छति इति समयः' के अनुसार पदार्थ सूचक हो गया। और पदार्थों में सार भूत आत्मा है। इस प्रकार संस्कृत कलश का नाम 'समयसार' हुआ, न कि 'समय पाहुड' का नाम 'समयसार' हुआ— जो कि वर्षों वर्षों से चला आ रहा है और धड़ाधड़ आचार्य कुन्दकुन्द के मूलग्रंथ पर अच्छे—अच्छे प्राकृतज्ञों द्वारा भी प्रचारित किया जा रहा है। इसमें किसी को कभी आपत्ति नहीं हुई।

हमारी दृष्टि में पूर्व के प्रकाशनों में कहीं कहीं 'समयप्राभृत' (वह भी संस्कृताधार पर) छपता रहा है। अब आगे प्रकाशनों में समय पाहुड नाम ही छपाकर, मूलनाम को सुरक्षित रखना चाहिए। ऐसा हमारा मन्तव्य है।

हम पाठकों को यह सन्देश भी दे दें कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पद्मप्रभाचार्य के शिष्य श्री देवनन्दाचार्य विरचित, एक प्राकृत ग्रन्थ 'समयसार पगरण' नाम का स्वोपज्ञटीका सहित श्वेताम्बरों में भी उपलब्ध है। जिसका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगर से वि.स. 1971 में हुआ। इसकी रचना वि.स. 1469 में हुई बतलाई है।

इस ग्रन्थ में दश अध्ययन हैं, जो दिगम्बर सम्प्रदाय के समयपाहुड की भांति जीव, अजीव आदि सात तत्वों, ज्ञान दर्शन चरित्र आदि के वर्णन से पूर्ण हैं। यह ग्रन्थ भी आगम के सार रूप में ही लिखा गया प्रतीत होता है। इसे भी केवल आत्मा के वर्णन में लिखा गया नहीं माना जा सकता।

□□

द्रव्यार्थिक व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों?

ले. रूपचन्द कटारिया

समय पाहुड़ की प्राचीन प्रतियों में ग्यारहवीं गाथा का मूल पाठ निम्न प्रकार से मिलता है–

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठि हवदि जीवो।।

आचार्यों ने इसकी संस्कृत छाया निम्न प्रकार से की है–

व्यवहारो ऽ भूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः।।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति टीका में उपर्युक्त संस्कृत छाया के आधार पर टीका करते हुए लिखा है–

''व्यवहार नयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतार्थं प्रद्योतयति शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति।''

श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा उपर्युक्त गाथा की टीका करते हुए अपनी आत्मख्याति टीका में व्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ/असत्यार्थ कहा है और केवल शुद्ध नय को भूतार्थ कहा है। यह कथन उपर्युक्त संस्कृत छाया के अनुकूल और मूल गाथा के प्रतिकूल जान पड़ता है।

समय पाहुड़ की किसी भी गाथा में तथा कुन्दकुन्दाचार्य की किसी भी कृति में व्यवहार को असत्यार्थ नहीं कहा गया है और उस नय को जिनोपदिष्ट बतलाया गया है। इससे प्रतिफलित होता है कि व्यवहार नय जिनोपदिष्ट है अैर भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित होने से सत्यार्थ है। भगवान जिनेन्द्र देव राग, दोष और मोह से रहित होने से कभी भी असत्यार्थ का कथन नहीं करते है[1]? और नय के दृष्टा भाषा समिति का परिपालन करते हुए पैशून्य (चुगली),हास्य, कर्कश, परनिन्दा और आत्म प्रशंसा रुप वचन को छोड़ कर स्व–पर हितकारी वचन को बोलने वाले होते हैं, अतः वे भी असत्यार्थ का कथन नहीं करते हैं[2]।

अतः जिनोपदिष्ट सम्पूर्ण दर्शन स्याद्वाद से परिपूरित है और स्याद्वाद की पूर्ति के लिए एकान्त का विरोध होना चाहिये। इसके विपरीत टीकाकार ने एकान्त का पक्ष लेते हुए व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ और शुद्ध नय को सर्वथा सत्यार्थ कह कर एकान्त की पुष्टि की है जो आगम के विरुद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पूरे समय पाहुड़ में जहां कहीं भी व्यवहार नय का कथन किया है वहीं निश्चय नय का भी कथन करके दोनों को समान रुप से ग्राह्य किया है।

नयचक्र में बतलाया गया है कि नय के बिना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नहीं हो सकता। इसलिए जो एकान्त का विरोध करना चाहता है उसे नय को अवश्य जानना चाहिये[3]।

यह सुस्पष्ट है कि सम्पूर्ण जैन दर्शन और समस्त जैन सिद्धान्त नयों पर आधारित है। नय के विषय में कहा गया है कि श्रुतज्ञान का आश्रय लिए हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं[4]। अतः वस्तु सत् है चाहे वह किसी भी दशा में हो, उसका ज्ञान करानेवाला नय सत्यार्थ ही होगा।

आगमानुसार मूल नय सात होते हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़ तथा एवंभूत[5]। इनमें प्रथम तीन नय (नैगम, संग्रह और व्यवहार) द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष चार नय पर्यायार्थिक हैं[6]। इस प्रकार व्यवहार नय मूलनय है और द्रव्यार्थिक भी है, अतः वह असत्यार्थ कैसे हो सकता है? इसके विपरीत शुद्ध नय एवं निश्चय नय मूल नहीं हैं। ये नय किस नय की शाखा या भेद हैं—यह विचारणीय है।

इस विषय में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वयं व्यवहार नय भी दो प्रकार का है—अशुद्ध व्यवहार और शुद्ध व्यवहार[7]।' इससे स्पष्टतः ध्वनित होता है कि शुद्ध नय जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने समय पाहुड की ग्यारहवीं गाथा में कहा है (देसिदो दु सुद्धणओ) व्यवहार का ही भेद है, वह व्यवहार से अतिरिक्त नहीं है और असत्यार्थ भी नहीं है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है[8]। अतः सम्पूर्ण जिनोपदेश व्यवहारमय है। उसको असत्यार्थ कहना क्या जिनवाणी पर लांछन नहीं है?

इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द की निम्न गाथा भी दृष्टव्य है—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।

अर्थात् ज्ञानी को दर्शन, ज्ञान चारित्र का उपदेश व्यवहार से दिया जाता है।

साधु के द्वारा दर्शन, ज्ञान और चारित्र का नित्य सेवन किया जाना चाहिये जैसा कि समय पाहुड की गाथा 16 में प्रतिपादित है[9]।

व्यवहार से प्रतिपादित दर्शन, ज्ञान और चारित्र को वचन का सार निरूपित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार के जीवाधिकार में कहते हैं कि नियम से जो करने योग्य है वह नियम है और ऐसा नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इससे विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का परिहार करने के लिए 'सार' यह वचन कहा गया है[10]।

नियम का फल बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और और सम्यक्चारित्र मोक्ष का उपाय है और उसका फल परम निर्वाण[11] है।

इस प्रकार मोक्षमार्गरूप सम्यग्यदर्शन, सम्यग्यज्ञान और सम्यक् चारित्र जो व्यवहार नयोपदिष्ट हैं और उन्हीं को जान कर योगी सुख को प्राप्त करता है और इन्हीं की साधना करके मलपुंज (कर्म समूह) का क्षय करता[12] है।

यहां विचारणीय यह है कि उक्त गाथा 11 की जो संस्कृत छाया की गई है उसमें 'भूदत्थो' को 'अभूतार्थो' कैसे कर दिया गया? और अमृतचन्द्र जैसे मेधावी आचार्य ने उसे स्वीकार करते हुए तदनुसार ही अपनी टीका में उसके अर्थ को कैसे अभिव्यक्त किया? जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया और इस प्रकार विपरीतार्थ हो जाने से परवर्ती समय में व्रत, तप, समिति, गुप्ति आदि को व्यवहार मान कर उनको महत्वहीन कर दिया गया जिससे हमारे चारित्र पर प्रबल कुठाराघात हुआ है। और तो क्या कहें? परवर्ती हिन्दी व्याख्याकारों ने 'भरतजी घर में वैरागी' कह कर और घर में वैरागी होने का उपदेश देकर वैराग्य के उत्पन्न होने पर जैनधर्मोपदिष्ट चारित्र की परम्परा गृहत्याग की अनिवार्यता ही समाप्त कर दी।

अदृश्यमान निश्चय चारित्र की दुहाई देने वाले आध्यात्म ेषक श्रावक बन्धुओं ने निश्चय–व्यवहार चारित्र की युगपत् घोषणा करते हुए भी अव्रती श्रावको को सर्वोच्च पद देकर, श्रावक के प्रतिमा रूप व्रतों को व्यवहारचारित्र मानकर तिलांजलि दे दी। साथ ही साथ व्यवहार चारित्र के पोषक गृहत्यागी श्रावकों का मन्दिर आदि धार्मिक एवं सार्वजनिक (धर्मशाला आदि) स्थानों की बजाय सम्पन्न श्रावकों के यहां निवास करना रुढ हो गया है। इससे प्रायः हमारे चतुर्विध संघ में शिथिलाचार को बढ़ावा मिला है।

आचार्यों, विचारकों एवं विद्वानों से मेरी विनम्र विनती है कि इस विषय में गम्भीरतापूर्वक चिन्तन और मनन करें तथा समाज में बढ़ रहे शिथिलाचार को रोकने का प्रयास करें। यह मेरा प्रथम प्रयास है। इसमें यदि कोई त्रुटि हुई हो तो मैं उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूं। मेरी मूल भावना यही है कि आगम के मूलपाठ की संस्कृत छाया से जो भ्रान्ति उत्पन्न हुई है उसका निराकरण हो और व्यवहार नय को तथ्य मानकर तदनुरूप चारित्र का अनुपालन किया जाय, ताकि **"आचारो प्रथमः धर्मः"** की पुष्टि हो सके।

सन्दर्भ

1. **रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभास परिणामं।**
   जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव।।
   -नियमसार, गाथा 57.
2. **पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।**
   परिचत्ता स परहिदं भासा समिदि वदंतस्स।।
   -नियमसार, गाथा 62.
3. **जह्मा णएण विणा होइ ण णरस्स सियवाय पडिवती।**
   तह्मा सो बोहव्वो एयंतं हंतुकामेण।।
   नयचक्र, गाथा 174.

4. जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थुअंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी तेण णाणेण।।

-नयचक्र, गाथा 173.

5. नेगम-संगह-ववहार उज्जुसूए चेव होई बोधव्वा।
सद्दे य समभिरुढे एवंभूए य मूलनया।।

-समणसुत्त, नयसूत्र, गाथा 9.

6. पढमतिया दव्वत्थी पज्जयगाही य इयर जे भणिया।
ते चदुअत्थ पहाणा सद्द पहाणा हु तिण्णिया।।

-समणसुत्त, नयसूत्र गाथा 10.

7. जं संगहेण गहियं भेयई अत्थं असुद्धं सुद्धंवा।
सो ववहारो दुविहो असुद्धशुद्धत्थभेयकरो।।

-समण सुत्त, नयसूत्र, गाथा 16.

8. जहणवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणाउ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।

-समय पाहुड़, गाथा 8.

9. दंसण णाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

-समय पाहुड़, गाथा 16

10. णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।

-नियमसार, जीवाधिकार, गाथा 3.

11. णियमं मोक्ख उवायो तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरुवणा होई।।

नियमसार, जीवाधिकार, गाथा 4.

12. जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।।

—सुत्त पाहुड़, गाथा 6

—37, राजपुर रोड,
दिल्ली-110054

धर्म की जड़ पकड़ो

–ले. सिंघई खुशाल चन्द्र जैन

आचार्यों ने जैन धर्म को सर्वोदय धर्म कहा है इस धर्म को आचार्यों ने सार्वभौमिकता की ओर ले जाने की कोशिश की, प्राणि मात्र का धर्म बन जाय इसलिये सरलीकरण की कोशिश की, त्यों–त्यों जैनियों के हृदय से जैनत्व का अभाव होता गया। विवेक बुद्धि पर ताला लगता गया, उस ताले को खोलने की धर्म के ठेकेदारों ने कभी कोशिश ही नहीं की जिससे जैन धर्म विवाद के घेरे में आ गया, धर्म के ठेकेदार यही सोचते रहे कि चलो हुआ हमारी रोटी सहजता से सिकती रहे मिलती रहे। धर्म क्या है कैसा है उस ओर लक्ष्य ही नहीं किया। भाई की भाई से दूरी बढ़ती चली गई, धर्म विवादित होता गया।

जिस धर्म का नारा है "शत्रु को शत्रुता से नहीं प्रेम से मारो" उसके पालकों में शत्रुता का बोलवाला है हकीकत से दूर है।

जिस धर्म का नारा है दृष्टि बदलो, आगे बढ़ो, पीछे देखने की कोशिश मत करो उस धर्म के ठेकेदारो में उसका पूर्ण अभाव है।

जिस धर्म का मूल अनेकान्त, अपरिग्रह, अहिंसा है उस धर्म के मानने वाले ठेकेदारों की रूचि ही नहीं तो धर्म कैसे सर्वोदयी, सार्वभौमिकता ग्रहण करे "न धर्मो धार्मिकैर्बिना" जिस धर्म के जो सिद्धान्त हैं उसका अनुयायी उन सिद्धान्तों पर न चले न माने तो वह धर्म तो पतित होगा ही। यदि ऐसा ही विचार इन ठेकेदारों का है तो मैं क्या कोई भी क्या कर सकता है? यदि ऐसा नहीं चाहते तो धर्म की अनेकांत वादिता को समझना होगा जो समता सहिष्णुता का पाठ पढाता है, बैर भाव को भुलाकर सत्वेषु मैत्री गुणिषुप्रमोदं का मार्ग प्रशस्त करता है।

अनेकान्त उद्‌बोधन दे रहा कि आप जो कह रहे हैं सत्य है, पर इसके आगे भी कुछ है उसे भी समझने की कोशिश करो तो यथार्थता समझ सकोगे। जिस प्रकार आप अपनी बात को मनवाना चाहते हो उसी प्रकार दूसरे की बात का आदर तो करो। जैन धर्म का सिद्धान्त है पापी से नहीं, पापों से घृणा करों "उसी को मानने वाला व्यक्ति, व्यक्ति से घृणा करे कैसे उचित होगा? जिसने अनेकान्त के सिद्धान्त को अपना लिया उसकी दृष्टि व्यवहार निश्चय पर नहीं रहती, समता कहो समन्वय युक्त हो जाती है।

व्यवहार को हेय कहा गया है, पर पूरा व्यवहार हेय है ऐसा भी नहीं है, सद्‌भूत व्यवहार नय उपादेय है ऐसा सभी आचार्यों ने कहा है। यह सद्‌भूत व्यवहार ही निश्चयनय को समर्थन करने वाला है, इसी ने निश्चय को निश्चयता प्रदान की

है, तभी तो आचार्यों ने व्यवहार को निश्चय का प्रतिपादक कहा है। इसी का आधार लेकर स्याद्वाद, या सापेक्षता का सिद्धान्त आचार्यों ने कहा है। निश्चय नय की सत्यता इसी सद्भूत व्यवहार से है, अगर इस नय को भुला दिया जाये तो निश्चय नय को भूलना होगा, निश्चय नय की कोई कीमत नहीं होगी। सद्भूत व्यवहार नय से ही यह निश्चयनय राजा बना है। राजा का विरोध नहीं होता, राजा कभी दो नहीं होते इसलिये आचार्यों ने निश्चयनय को राजा एवं व्यवहार नय को मंत्री की संज्ञा दी है।

किसी भी आचार्य ने निश्चय नय का भेद नहीं किया। किसी किसी ने समझाने की वजह से भेद किया है, उन्होंने भी अंत में व्यवहार ही माना निश्चय नहीं। यदि निश्चय के भेद मान लिये तो इसकी अभेदता खतरे में पड़ जायेगी। इस खतरे के निवारणार्थ ही स्याद्वाद अनेकान्त का महत्व है। स्याद्वाद जैन सिद्धान्त की नींव है, जड़ है। इस सिद्धान्त के द्वारा ही व्यवहार, निश्चय प्रमाणिकता का सेहरा कहो सर्टिफिकेट, एक ही बात है प्राप्त करता है। इसके अभाव में नयाभास का सर्टिफिकेट प्राप्त करता है।

हे, ठेकेदारी करने वालों! स्याद्वाद "अनेकान्त" को अपनाईये धर्म की उज्वलता को पहचानिये, तभी उद्धार होगा। विवाद बनाये रहोगे तो नर्क ही मिलेगा, जो संसार का महादुख देने वाला अंग है।

आज की दुनियाँ में जितने भी विवाद हैं वे सब एकान्तवादिता कहो या हठवाद के ही कारण है, स्याद्वाद मानव को बनाने वाला सिद्धान्त है, प्रेम का संचार करने वाला है, इस सिद्धान्त को मानव आत्मसात् करते तो भाईचारा "सत्वेषु मैत्री" की भावना जागृत होती है। विरोध का परिहार करता है, सत्य अहिंसा पर आधारित है इसे तन, मन, धन देकर भी अपनाना चाहिये।

संसार में नाना प्रकार के जीव है अनेक गुण है, धर्म है उनमें विरोध न हो का संकेत स्याद्वाद दृष्टि से देखना, उस पर अलग–अलग विचार करने की शिक्षा देता है। स्याद्वाद सहिष्णुता, विशाल हृदयता, विशाल मस्तिष्क बनाने का आदर्श मानवों के सामने उपस्थित करता है। वह शिक्षा देता है कि आप सच्चे हैं, आपका धर्म सच्चा है। पर याद रक्खो दूसरों को मिथ्या मत समझो। यदि दूसरों को झूठ मान लिया तो आप खुद झूठे बन जाओगे। संसार में इससे सुन्दर इसका मुकाबला करने वाला सिद्धान्त दूसरी जगह नहीं मिल सकता। इस सिद्धान्त के प्रति प्राणीमात्र में श्रद्धा जाग्रत हो जाय तो धर्मान्धता, अनुदारता, अशान्ति, द्वेष, आज भी संसार से समाप्त होकर प्राणी मात्र में प्रेम की भावना बन सकती है।

जैन सिद्धान्त ने वस्तु के स्वरूप को समझने, समझाने के लिये अनेकान्त दृष्टि का उपदेश दिया है जिसे न समझकर अपने पक्ष व्यामोह या हठवादिता द्वारा गड़बड़ी पैदा कर विवाद का विषय बना रहे। जैसे धागे में पिरोई गई माला दो व्यक्ति अपनी अपनी ओर खींचा तानी करे तो परिणाम क्या होगा? माला टूट जायेगी,

इसी प्रकार निश्चय व्यवहार की खींचातानी में जिनवाणी रूपी माला तोड़ रहे हैं, अविनय कर रहे हैं, अतः मानव को पक्ष व्यामोहता का चश्मा उतार देना चाहिये तभी यथार्थता का ज्ञान होगा। पक्षपाती अपनी दूर दृष्टि का उपयोग नहीं कर सकता उसे अपनी एवं अपनी नाक की लगी रहती है जिससे वास्तविकता समझ में नहीं आती। उन्हें हंस से शिक्षा लेनी चाहिये। हंस में यह विशेषता होती है कि दूध पानी को मिला दो तो वह दूध ग्रहण कर लेता है पानी छोड़ देता है। वह यह नहीं कहता मुझे पानी मिला दूध नहीं चाहिये पर अपनी विवेक बुद्धि से पानी छोड़ देता है दूध ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार एकान्त को न पकड़ अनेकान्त का सहारा लेना चाहिये। व्यवहार एवं निश्चय द्वारा वस्तु के स्वरूप को समझने की कोशिश करना चाहिये।

वस्तुतः व्यवहार, निश्चय, पाप, पुण्य, निमित्त, उपादान, द्वादशांग वाणी के ही अंग हैं। इनमें विवाद के लिये कोई स्थान ही नहीं है, पर वर्तमान में लोग एक एक नय को अपनत्व का जामा पहिना कर धर्म की प्रभावना में बाधक बन रहे है, लोक में भी बदनाम होते हैं। दूसरी समाज यही तो कहती है कि इन धर्मात्माओं से हमीं अच्छे हैं जो भाई को भाई तो समझते हैं। इन लोगों के समान आपस में लड़ते तो नहीं।

एक नय को लेकर प्रवचन नहीं होना चाहिये। प्रवचन में दोनों ही नयों का उपयोग होना चाहिये, इससे विरोध नहीं होता। न्याय की कसौटी पर भी खरा उतरता है। जैसे जिसकी एक आंख फूटी हो उसको सुमुखी नहीं कहा जायेगा। तभी तो आचार्यों ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा है। देखो पक्षी के दो पंख होते हैं, दोनों पंखों से वह उड़ता है। यदि एक पंख बेकार हो जाये, टूट जाये तो वह उड़ने में असमर्थ ही होगा। जब हर जगह दो दृष्टियों का प्रयोग होता है फिर धर्म में एक दृष्टि क्यों? पैसा कमाने में एक दृष्टि क्यों नहीं, भोजन करने में एक दृष्टि क्यों नहीं? सोचो तुम्हारे दो हाथ हैं, दो पांव हैं, क्यों दोनों ही कार्यकारी हैं, एक नहीं। इसी से आचार्यों ने कहा है कि निश्चय के बिना व्यवहार कार्यकारी नहीं एवं व्यवहार के बिना निश्चय पंगु है, थोथा है, अग्राह्य है। अतः विवादों से बचना है तो अनेकान्त ही एक ऐसा अस्त्र है जो समन्वय सहिष्णुता को जगाकर, बिखरे हुए मोतियों को एक माला में पिरोकर मानव को मानवता का पाठ पढ़ाता है, दुनियाँ के विवादों को निपटा कर सरलता, समता जगाता है।

बन्धुओं, यह संसार है, यहां पर बिना कार्य किये गुजारा नहीं। यहां कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा, इसलिये आचार्यों ने, चार पुरूषार्थ करने योग्य कार्य बताये हैं जिन्हें अशुभ से बचने के लिये एवं रोजी रोजी रोटी चलाने के लिये करना आवश्यक है जिसमें धर्म पहले एवं मोक्ष बाद में कहा है। इसका सार भी यही है कि पहले मानव का करणीय कार्य धर्म है, धर्म के द्वारा ही अर्थ, काम अंत में मोक्ष की प्राप्ति होगी। धर्म के बिना ये चारों पुरूषार्थ अकार्यकारी हैं। यहाँ करना तो

पड़ेगा इससे अधर्म से बच कर धर्म में प्रवृत्ति करो। यहाँ यह भी जानना जरुरी है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? जब तक इसका ज्ञान नहीं होगा उस पर चलना भी मुश्किल होगा। व्यवहार निश्चय यदि सापेक्ष्य हैं तो धर्म का मार्ग सरलता से प्राप्त हो जाता है। यदि निर्पेक्ष हैं तो कठिनता आ जाती है। जैन धर्म इस विशेषता को लिये हुए है, जिसका उद्देश्य प्राणि मात्र का कल्याण हो। बुद्धिमान तो रास्ता निकाल लेते है, पर मूर्ख उसमें गड़बड़ा जाता है। वह गड़बड़ा न जाये, सरलता से रास्ता प्राप्त करले इसके लिये व्यवहार निश्चय का उपदेश है जिसने इन्हें नहीं जाना वह मार्ग भटक जायेगा। जिसे इन बुद्धिमानों ने अपनी रोटी कमाने का साधन बना लिया हैं। मूर्ख तो मूर्ख है, इस प्रकार के वातावरण से उकता जाता है जिससे धर्म का पतन होता है, अविनय होती है जिसे बचाना है। अतः रोटी कमाने वालों से नम्र निवेदन है कि अपने स्वार्थ के पीछे धर्म का पतन न करें। अनेकान्त दृष्टि करें तो अच्छा है।

मैं भी व्यवहार को हेय मानता हूं, पर पाप की तरह हेय नहीं, निश्चय विवेचन करता है मुक्त जीव का तो मुक्त जीव में संसारी जीव से विशेषता तो होना चाहिये, व्यवहार दोनों जीव का विवेचक है। व्यवहार कहता कि संसार में आकुलता है, इसमें सुख नहीं सुखाभास है, यदि तुम सुख चाहते हो तो मुक्त जीव बनो। इस वजह से संसारी जीव को दोनों नय स्थिति अनुसार ग्रहण करने योग्य है ऐसा जैन धर्म का सिद्धान्त है, यही आचार्यों द्वारा कहा गया है। उसे वचन विलास द्वारा झुंठलाने की कोशिश मत करो, अन्यथा "जैसी करनी वैसी भरनी"।

—सिमरिया बाला
अंकुर कालौनी, रजाखेड़ी (सागर)

**जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य।
अविणिच्छिओ य समये तह तह सिद्धंतपडि णीओ।।**

—सम्मइसुत्त ३/६६

—सिद्धान्त में अनिश्चित (बुद्धिवाला कोई आचार्य) जैसे जैसे बहुश्रुत (पण्डित) माना जाता है और शिष्यवृन्द से घिरता जाता है, वैसे वैसे सिद्धान्त के प्रतिकूल होता जाता है।

—डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री

आडम्बर में जकड़ा हुआ धर्म

-राजकुमार जैन (आयुर्वेदाचार्य)

आजकल धर्म आडम्बरों में जकडता जा रहा है। समाजकी ओर से समाज के नेताओं के द्वारा कोई भी धार्मिक आयोजन किया जाय उसमें प्रदर्शन, आडम्बर और स्वयं को आगे रखकर अपनी अहमियत प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने आत्म कल्याण और धार्मिक भावना को तो गौड बना दिया और आत्मश्लाधा तथा आत्म प्रदर्शन को मुख्य। यह प्रवृत्ति केवल समाज के अग्रणी लोग और नेताओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु आत्मकल्याण का उपदेश देने वाले साधुजन और उस उपदेश को सुनने वाले श्रावकगण भी इसमें सहभागी हैं। आजकल समाज में जितना भी आयोजन और प्रदर्शन हो रहा है वह मात्र अहं और उसकी तुष्टि के लिए है। यह वस्तुस्थिति है कि व्यक्ति अपना बडप्पन दिखाने के लिए ही प्रदर्शन करता है और प्रदर्शन की समाप्ति या आयोजन की सफलता के उपरान्त वह अहंतुष्टि का अनुभव करता है।

जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के नाम पर आज जितने भी आयोजन हो रहे हैं उनमें बड़े बड़े उपदेश दिए जाते हैं और अहिंसा धर्म के पालन एवं अनुरक्षण की बात जोर शोर से की जाती है, किन्तु यह नहीं देखा जाता कि उस आयोजन में ही न जाने कितनी जीव हिंसा हो रही है। एक स्थान पर समुदाय या भीड इकट्ठी होना स्वयं अपने आप में हिंसा का कारण है। क्योंकि जहां भीड़ इकट्ठी होगी वहां असंख्य क्षुद्र जीवों–प्राणियों का मरना अवश्यम्भावी है। अतः समाज के ठेकेदार धार्मिक आयोजन और प्रदर्शन कर स्वयं हिंसा की सामग्री एकत्र करते हैं और उसमें सहभागी बनाते हैं हमारे पूजनीय साधुओं और उनके प्रति अंधश्रद्धा भाव रखने वाले श्रावकों को।

आज हमारे समाज के दो मुख्य आधार स्तम्भ है– एक साधु और दूसरा श्रावक। हमारा सम्पूर्ण समाज और जैनधर्म इन्हीं दोनों के इर्द गिर्द है। साधु के बिना श्रावक की गति नहीं है और श्रावक के बिना साधु की। जैनधर्म के अनुसार साधु का मुख्य कार्य है आत्मोत्थान या आत्मा का विकास करना, राग–द्वेष एवं अहं भाव से स्वयं को मुक्त रखना तथा सामाजिक प्रपंचों, आडम्बरों और प्रदर्शनों से स्वयं को दूर रखना। श्रावक का कार्य है श्रद्धा और भक्ति भाव पूर्वक धर्माचरण करना, साधुओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखना तथा धर्म का प्रचार प्रसार करना। इसके विपरीत आजकल साधुजन सामाजिक और धार्मिक आयोजनों में सम्मिलित होते हैं तथा

वहां मंचासीन हो कर श्रावकों को आत्मोद्धार और आत्मोत्थान का उपदेश देते हैं और उन्हें आत्मा के विकास का पाठ पढ़ाते हैं। मंच पर विराजमान होकर वे धर्म का प्रचार व प्रसार करने की भी बात करते हैं। वस्तुतः आत्म विकास और आत्म कल्याण का जो कार्य स्वयं उनके द्वारा किया जाना चाहिये उसकी अपेक्षा श्रावकों से की जाती है और धर्म के प्रचार प्रसार का जो कार्य श्रावकों द्वारा किया जाना चाहिये उसका बीड़ा उठाया है साधुओं ने।

आजकल श्रावकों का मनोबल बड़ा ऊंचा है, वे समाज के ठेकेदारों द्वारा आयोजित बड़े बड़े धार्मिक आयोजनों और प्रदर्शनों में भाग लेकर और उन आयोजनों में मंचासीन साधुओं—मुनियों की जय जयकार कर वह स्वयं को गर्वोन्नत अनुभव करते हैं, मानो उस कार्यक्रम में सम्मिलित हो कर और जय जयकार कर वह श्रावक आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो गया है, भले ही जैनधर्म और दर्शन के प्रति उसमें कोई जिज्ञासा नहीं हो। साधु आज मंच के आकर्षण और जयघोषों के मोह जाल में जकडता जा रहा है। साधुओं के सान्निध्य में आज जगह जगह संगोष्ठियां आयोजित की जाती हैं जिनमें साधु अपना पूरा समय देते हैं और अन्त में जनसमुदाय को उपदेश के माध्यम से अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। जन सामान्य और संगोष्ठी में उपस्थित विद्वज्जन उनके उपदेशों से कितना लाभान्वित हो रहे हैं—यह उनके आचरण से ही स्पष्ट है। क्योंकि आजकल तो धर्म की या मर्म की कोई भी बात कान से सुनने के बाद हृदय और अन्तःकरण तक पहुंच ही नहीं पाती है। वे तो 'इस कान से सुन और दूसरे कान से निकाल' की कहावत को चरितार्थ कर रहे है।

वस्तुतः साधु निःस्पृही होता है, होना भी चाहिये, क्योंकि जयघोष एक प्रकार की लालसा का प्रतीक है जिसकी अन्ततः परिणति परिग्रह में है जो भौतिक होता है जिससे साधु का यथाशक्य बचना चाहिये और समाज का भी दायित्व है कि वह इस भौतिक लालसा जन्य परिग्रह से साधु को मुक्त रखे, किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो पा रहा है।

निःसन्देह आजकल साधुओं की सत्प्रेरणा से कतिपय ज्वलन्त विषयों पर संगोष्ठियां या परिसंवाद आयोजित किए जा रहे हैं जिनकी सफलता और सार्थकता को बढ़ चढ़ कर प्रचारित किया जाता है। एक मायने में उन्हें सफल मान भी लिया जाता है। उनमें एक ओर जहां साधुओं के जयघोष का ईंधन प्रज्वलित किया जाता है वहीं दूसरी ओर संगोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वज्जन साधु सान्निध्य में अपने प्रति किए जाने वाले स्वागत—सत्कार और माल्यार्पण से गदगद हो दुगने उत्साह से जयघोष करने लगते है। संगोष्ठी या परिसंवाद का आयोजन निश्चय ही किसी विषय के निष्कर्ष पर पहुंचने की एक सार्थक प्रक्रिया है, बशर्ते सीधे सीधे विषय वस्तु की सार्थक चर्चा की जाय और उसे चाटुकारिता की परिधि से दूर रखा जाय। किन्तु ऐसा हो नहीं पा रहा हैं। इस सम्बन्ध में डा० नेमीचन्द जैन की निम्न टिप्पणी

एकदम सटीक प्रतीत होती है–"जयघोष ऐसी हथकड़ियां हैं जो किसी भी भोले भाले साधु को अनजाने में कैद कर लेती है। एक बार कैद साधु को फिर ताजिन्दगी कैद भोगनी पड़ती है। श्रावक वर्ग अपने स्वार्थ के लिए हथकड़ियां डालता है और फिर चाबी गुमा बैठता है। हथकड़ियां खोलने के लिए 'मास्टर की' यद्यपि साधु के पास प्रतिक्षण रहती है, किन्तु एक तो उसे इसका बोध नहीं होता, दूसरे वह उसका उपयोग जानबूझ कर टाल जाता है।"

किसी भी धार्मिक या सामाजिक आयोजन या कार्यक्रम की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु उसकी सफलता और सार्थकता तब ही मानी जाय जब उसका सुपरिणाम सामने आए। केवल भीड़ इकट्‌ठा हो जाना और उस भीड़ द्वारा तालियां पीटा जाना तक को ही आयोजन की सफलता की कसौटी नहीं माना जा सकता। जब तक आयोजन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो तथा आयोजकों और श्रोताओं के अन्तःकरण का परिसंस्कार नहीं हो, किसी भी प्रकार का आयोजन सफल या सार्थक नहीं माना जा सकता। यहां पर मैं डा. नेमीचन्द जैन की निम्नपंक्तियां सन्दर्भित करना चाहूंगा–"किसी भी संगोष्ठी में सिर्फ किसी विचार या विचार विमर्श का ही जयघोष हो सकता है। उसके सदियों से विकसित ढांचे में जयघोषों और चापलूसियों, रिश्तेदारियों और व्यक्तिगत खुदगर्जियों के लिए कोई हाशिया नहीं है। यदि कोई संगोष्ठी या परिसंवाद के सुनियोजित ढांचे को विकृत या संदूषित करता है तो वह इतिहास के साथ कपट करता है, अतः समाज की स्वाभिमानी मनीषा को उसका विरोध या समाधान करना चाहिये।"

समाज का बड़ा वर्ग आज अहं के विकार से ग्रसित है। उसी अहं की संतुष्टि के लिए वह बड़े बड़े आडम्बर और आयोजन कर उसमें समाज को एकत्र करता है। सम्भवतः यही कारण है कि जैनधर्म आज आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाला धर्म न होकर अत्यन्त सीमित हो गया है। यद्यपि हम सब जानते हैं कि जैनधर्म में प्रतिपादित नियमों का पालन किए बिना आत्म कल्याण कर पाना या मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। धर्म के प्रति आस्थावान या निष्ठावान होने का आशय मात्र इतना नहीं है कि कोई कितने धार्मिक आयोजनों में सम्मिलित होता है, कितनी बार मन्दिर जाता है या कितनी बार जय जयकार करता है, अपितु दृढ़ आस्थावान वह भव्य जीव है जो स्व–पर को पहचानने का प्रयत्न करता है। स्व–पर को पहचानने का प्रयत्न केवल वह कर सकता है जो अपनी आत्मा का विकास या उत्थान करना चाहता है। वह शरीर में या बाह्य आडम्बरों या प्रदर्शनों में नहीं उलझता है। सभी आडम्बरों और प्रदर्शनों से दूर रह कर केवल स्व में रमण और विचरण करता है। आडम्बर और प्रदर्शनों से केवल तब ही दूर रहा जा सकता है जब उसके अन्तः करण में राग–द्वेष की तीव्रता कम हो और धीरे धीरे वह अल्पतर होती जाय। इससे अन्तःकरण में मूर्च्छाभाव और परिग्रहवृत्ति को पनपने का मौका नहीं मिलता और वह भव्य जीव आत्मकल्याण के सोपान पर आरुढ़ होकर धर्म के प्रति आस्थावान,

श्रद्धावान और भक्तिभाव युक्त होता है। दृढ़ आस्था एवं श्रद्धा और सच्ची भक्ति भी ऐसी हो जो उसके अन्तर्मन को छू सके और उसे निर्मल बना दे।

किन्तु, आज वातावरण और परिस्थितियां ऐसी नहीं हैं। आज हमारे सामने जो कुछ भी घटित हो रहा है, यदि उसे ही आधार माना जाय तो स्थिति उत्साहजनक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि आडम्बर की जिस विकृति ने समाज में अपनी जगह बनाई है और उसने धर्माचरण में जो विकार उत्पन्न किए हैं उससे मनुष्य धर्म से दूर होता जा रहा है। यदि समय रहते इसका समुचित उपचार नहीं किया गया तो भविष्य में इसे सुधार पाना सम्भव नहीं होगा। काल के प्रभाव से समाज में आई विकृति के कारण आज धार्मिक क्रियाएं, शास्त्र प्रवचन और साधुजन अपनी प्रासंगिकता खोते जा रहे हैं। कहीं भी इनका सही प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यद्यपि बाह्य रूप से आज सर्वत्र धर्म का बोलबाला है। धार्मिक जुलूस निकाले जा रहे हैं, उनमें भीड़ भी बहुत इकठ्ठी हो रही है, पंचकल्याणक, गजरथ आदि धार्मिक आयोजनों की भरमार है, उनमें साधुजनों की उपस्थिति भीड़ एकत्र करने के लिए पर्याप्त है और समाज सेवी संस्थाएं भी बढ़ चढ़ कर भाग ले रही हैं, प्रचार भी खूब हो रहा है और रुपया भी पानी की तरह बहाया जा रहा है। इतना सब होते हुए भी न तो कहीं सहजता है, न स्वाभाविकता है, न मानसिक बदलाव है और न ही आध्यात्मिक धरातल है जहां मनुष्य में सहज, स्वाभाविक आध्यात्मिक गुणों का विकास हो सके।

वास्तव में यदि देखा जाय तो आज सर्वत्र बोलबाला है अवमूल्यन का। सामाजिक अवमूल्यन, धार्मिक अवमूल्यन, नैतिक अवमूल्यन, वैचारिक अवमूल्यन और बौद्धिक अवमूल्यन। इसी का परिणाम है कि आज समाज में दलबन्दी और साधुओं में खेमाबन्दी को प्रोत्साहन मिला है। साथ ही संस्थाओं में विभिन्न पदों को पाने की होड़ लगी है तो धर्मायतनों में अधिकारों की लड़ाई छिड़ी हुई है। पद और अधिकारों की तृष्णा ने लोगों में जो वैमनस्य, ईर्ष्या और द्वेष के बीज बोए हैं उससे सामाजिक विषमता को पनपने का पर्याप्त अवसर मिला है। बड़ी बड़ी धर्म सभाओं और सम्मेलनों में धर्म को आत्मसात् करने, धर्माचरण करने और महापुरूषों के अनुकरणीय आदर्शों को अपनाने की बात की जाती है, जनता को उपदेश दिया जाता है, किन्तु स्वयं का आचरण उससे ठीक विपरीत होता है। आज धार्मिक आयोजनों और धर्मसभाओं में अन्यायोपार्जित द्रव्य का जो भौंडा प्रदर्शन किया जाता है और उसे जिस प्रकार सफलता का जामा पहनाया जाता है वह आडम्बर और दिखावा की पराकाष्ठा है। आज कथनी और करनी में अन्तर हमारे जीवन का अनिवार्य अंग बन गया है। बात करते हैं सिद्धान्तों की और अपने विपरीत आचरण के द्वारा उन्हीं सिद्धान्तों की धज्जियां उड़ाई जाती है।

अन्तःकरण की गहराईयों में उतर जाने वाला धर्म आज जीवन के दस हजारवें अंश को भी नहीं छू पा रहा है। हमारी कुत्सित मनोभावनाओं ने धर्म को इस प्रकार

बांट दिया है मानो वह हमारी बपौती है, दूसरे का उस पर कोई अधिकार नहीं है। जब साधु ही गुट बाजी में फंस गए हैं तो उनकी शिष्य मण्डली भी गुटबाजी का शिकार हुए बिना कैसे रह सकती है? उन्होंने न केवल शास्त्रों को बांट दिया है, अपितु आगम के मूल शब्दों के साथ भी छेड़खानी शुरू कर दी है। ऐसे में कहां जायेंगे हम और कहां जायेगा हमारा धर्म? प्राणिमात्र और जीवमात्र के कल्याण और आत्म स्वातन्त्र्य की बात करने वाला हमारा धर्म क्या संकीर्णता, आडम्बर और प्रदर्शन की बेड़ियों में नहीं जकड़ गया है और ऐसा करने में क्या केवल हमारी ही भूमिका नहीं है? सोचें और विचार करें।

—भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा संस्थान
112 ए/ब्लॉक—सी, पॉकेट—सी
शालीमार बाग, दिल्ली—110052

समता-भाव

समताभाव रहना ही परम तप है। ज्ञानी जीव समताभाव में सुखसागर को पाते हैं, उसी में मगन हो जाते हैं, उसीके शान्तरस का पान करते हैं, उसी के निर्मल जल से कर्म-मल छुड़ाते हैं। समताभाव एक अपूर्व चन्द्रमा है, जिसके देखने से सदा ही सुखशान्ति मिलती है। समताभाव परम उज्ज्वल वस्त्र है, जिसके पहिनने से आत्मा की परमशोभा होती है। समताभाव एक शीघ्रगामी जहाज है, जिस पर चढ़कर ज्ञानी भवसागर से पार हो जाते हैं। समताभाव रत्नत्रय की माला है, जिसको पहिनने से परमशांति मिलती है। समताभाव परमानन्दमयी अमृत का घर है, जिसमें भीतर से अमृतरस रहते हुए भी वह कभी कम नहीं होता है। जो समताभाव के स्वामी हैं वही परम-तपस्वी हैं। वे शीघ्र स्वतंत्रता को पाकर परमसन्तोषी हो जाते हैं और तृष्णा के आताप से रहित हो जाते हैं।

-स्वतंत्रता सोपान, (ब्र.सीतल प्रसादजी)

विदेशों में जैनधर्म

-डॉ. गोकुलप्रसाद जैन

जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव का जन्म स्वायंभुव मनु की पांचवी पीढ़ी में हुआ था। स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्र, अग्नीध्र के पुत्र अजनाभ (नाभिराय) और नाभिराय के पुत्र ऋषभ थे? आदिपुराण में मनु को ही कुलकर कहा गया है। ऋषभ के पिता अजनाभ (नाभिराय) अंतिम कुलकर थे जिनके नाम से वह देश अजनाभ वर्ष कहलाता था तथा तदुपरान्त ऋषभपुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाया।

जैन साधु अतिप्राचीन काल से ही समस्त पृथ्वी पर विद्यमान थे, जो संसार त्यागकर आत्मोदय के पवित्र उद्देश्य से एकान्त वनों और पर्वतों की गुफाओं में रहा करते थे।2 जैन काल गणना के अनुसार तीर्थंकर ऋषभदेव के अस्तित्व का संकेत संख्यातीत वर्षों पूर्व मिलता है। भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में सर्वत्र 141 ऋचाओं में ऋषभदेव की स्तुति और जीवनपरक उल्लेख मिलते हैं। अन्य वेदों, उपनिषदों एवं प्रायः सभी पुराणों–उपपुराणों आदि में भी ऋषभदेव के जीवन प्रसंगों के उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। उनमें अर्हन्तों, वातरशना मुनियों, यतियों, व्रात्यों, विभिन्न तीर्थकरों तथा केशी ऋषभदेव संबंधी स्थल इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।3

ऋषभदेव और उनकी परम्परा में हुए अन्य 23 तीर्थकरों द्वारा प्रवर्तित महान् श्रमण–संस्कृति और सभ्यता का उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में प्रचार–प्रसार तो प्राग्वैदिक काल में ही हो गया था। सर्वप्रथम तो वह संस्कृति भारत के अधिकांश भागों में फैली और तदुपरान्त वह भारत की सीमाओं को लांघकर विश्व के अन्य देशों में प्रचलित हुई और उसका विश्वव्यापी प्रचार–प्रसार हुआ। यह संस्कृति यूरोप, रूस, मध्य एशिया, लघु एशिया, मैसोपोरामिया, मिश्र, अमेरिका, यूनान, बेबीलोनिया, सीरिया, सुमेरिया, चीन, मंगोलिया, उत्तरी और मध्य अफ्रीका, भूमध्यसागर, रोम, ईराक, अरबिया, इथोपिया, रोमानिया,स्वीडन, फिनलैंड, ब्रह्मदेश, थाईलैंड, जावा, सुमात्रा, श्रीलंका आदि संसार के सभी देशों में फैली तथा 4000 ईसा पूर्व से लेकर ईसा काल तक प्रचुरता से संसार भर में विद्यमान रही।

वस्तुतः आदि महापुरूष ऋषभदेव विश्व संस्कृति और अध्यात्म के मानसरोवर हैं जिनसे संस्कृति और अध्यात्म की विविध धाराएँ प्रवाहित हुईं और विश्व भर में पल्लवित, पुष्पित और सुफलित हुईं। विश्व में फैली प्रायः सभी अध्यात्म धाराएँ

उन्हें या तो अपना आदिपुरूष मानती हैं या उनसे व्यापक रूप से प्रभावित हैं। यही कारण है कि वे विविध धर्मों के उपास्य,सम्पूर्ण विश्व के विराट् पुरूष और निखिल विश्व के प्राचीनतम व्यवस्थाकार हैं।

वैदिक संस्कृति और भारतीय जीवन का मूल सांस्कृतिक धरातल ऋषभदेव पर अवलम्बित है। भारत के आदिवासी भी उन्हें अपना धर्म देवता मानते हैं और अवधूत पंथी भी ऋषभदेव को अपना अवतार मानते हैं। ऋषभदेव के ही एक पुत्र 'द्रविड़' को उत्तरकालीन द्रविड़ों का पूर्वज कहा जाता है। सम्राट भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश, उनके भतीजे सोमयश से चंद्रवंश तथा एक अन्य वंशज से कुरुवंश चला।

पुरा काल के अध्ययन से प्रकट होता है कि ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दि के प्रारभ में और उसके बाद महान पणि जाति ने लगभग सभी भागों में शान्तिपूर्ण ऐतिहासिक प्रव्रजन किया। इस पणि जाति का अनेकशः स्पष्ट उल्लेख प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद की 51 ऋचाओं में, अथर्ववेद में, एवं यजुर्वेद (बाजसनेयी संहिता) एवं सम्पूर्ण वेदोत्तर साहित्य में हुआ है। ये पणि (जैन) भारत से गए थे। ये अत्यन्त साहसी नाविक, कुशल इंजीनियर और महान शिल्पी थे।

इन्होंने विश्वभर में अपने राज्य स्थापित किए तथा महल और किले बनवाये। इन्होंने अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार साम्राज्य स्थापित किया और अनेक देशों पर शासन किया। इनका सम्बन्ध सुमेर, मिश्र, बेबीलोनिया, सुषा, उर, एलम आदि के अतिरिक्त उत्तरी अफ्रीका, भूमध्यसागर, उत्तरी यूरोप, उत्तरी एशिया और अमेरिका तक से था।

पणि लोगों ने ही मध्य एशिया की सुमेर सभ्यता की स्थापना की थी। इन्होंने ही ईसा पूर्व 3000 में उत्तरी अफ्रीका में श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। मध्य एशिया से उरुक राजवंश का पंचम शासक गिलगमेश लगभग 3600 ईसा पूर्व में दीर्घकालिक यात्रा करके भारत में मोहन जोदड़ो (दिल मन-भारत) की तीर्थयात्रा के लिए गया था, जैसा कि उसके तत्कालीन शिलालेख से प्रगट है। वह श्रमण धर्म (जैनधर्म) का अनुयायी था।

तीर्थयात्रा में उसने मोहन जोदड़ो (दिल मन-भारत) में आचार्य उत्तनापिष्टिम जैनाचार्य उत्तमपीठ के दर्शन किए थे जिन्होंने उसे मुक्तिमार्ग (अहिंसा धर्म) का उपदेश दिया था। सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियन सम्राट नेबुचेदनजर ने रेवानगर (काठियावाड़)के अधिपति यदुराज की भूमि द्वारका में आकर रैवताचल (गिरनार) के स्वामी नेमीनाथ की भक्ति की थी और उनकी सेवा में दानपत्र अर्पित किया था। दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियायी नरेश की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल लगभग 1140 ईसा पूर्व है।8

अमेरिका में लगभग 2000 ईसा पूर्व में (आस्तीक-पूर्व युग में) संघपति जैन आचार्य क्वाजल कोटल के नेतृत्व में पणि जैनजाति के श्रमण संघ अमेरिका पहुंचे और तत्पश्चात सैकड़ों वर्षों तक श्रमण समुदाय अमेरिका में जाकर बसते रहे, ऐसा प्रसिद्ध अमरीकी इतिहासकार वोटन ने लिखा है। प्राचीन अमेरिकी संस्कृति पर

क्वाजल कोटल संस्कृति की व्यापक और स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मध्य अमेरिका में आज भी अनेक स्थलों पर क्वाजल कोटल के स्मारक और चैत्य प्राप्त होते हैं।

लटविया के प्रमुख लेखक पादरी मलबरगीस ने 1856 में लिखा है कि लटविया, एस्टोनियां लिथुएनिया और फिनलैंड वासियों के पूर्वज भारत से जाकर वहां बस गए थे। इनमें अधिकांश पणि व्यापारी थे जो जैन धर्मालम्बी थे।

कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थों में ऐसे महत्वपूर्ण प्रमाण मिले हैं कि अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, टर्की आदि तथा सोवियत रूस के अजोब सागर से ओब की खाड़ी से भी उत्तर तक तथा लाटविया से अल्ताई के पश्चिमी छोर तक किसी काल में जैन धर्म का व्यापक प्रसार था। इन प्रदेशों में अनेक जैन मंदिरों, जैन तीर्थकरों की विशाल मूर्तियों, धर्म शास्त्रों तथा जैन मुनियों की विद्यमानता का उल्लेख मिलता है।9

बेबीलोन से लेकर यूरोप तक जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था। मध्य यूरोप, ऑस्ट्रिया और हंगरी में आए भूकम्प के कारण भूमि में एकाएक आये परिवर्तनों से बुडापेस्ट नगर में एक बगीचे में भूमि से महावीर स्वामी की एक मूर्ति निकली थी। सातवीं शती ईसा पूर्व में हुए यूनान के प्रसिद्ध मनीषी जैन साधक और जैन संन्यासी थे। यूरोप और बेबीलोन दोनों का संबध इयावाणी ऋष्यश्रृंग के उपाख्यान से भी सिद्ध होता है। मौलाना सुलेमान नदबी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत और अरब के संबंध'11 में लिखा है कि संसार मे पहले दो ही धर्म थे एक समनियमन और दूसरा केल्डियन। समनियन लोग पूर्व के देशों में थे। खुरासान वाले इनको 'शमनाम' और 'शमन' कहते हैं। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा प्रसंग में 'श्रमणेरस' का उल्लेख किया है।12

चीन के एक प्रोफेसर तान यून शान ने लिखा है कि तीर्थकरों ने अहिंसा धर्म का विश्व भर में प्रसार किया था। चीन की संस्कृति पर जैन संस्कृति का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीन पर ऋषभदेव के एक पुत्र का शासन था।

वस्तुतः चीन से केस्पियाना तक पहले ही श्रमण संस्कृति का प्रचार–प्रसार हो चुका था। श्रमण संस्कृति तो महावीर से 2000 वर्ष पूर्व ही आक्सियाना से हिमालय के उत्तर तक व्याप्त थी।13

लेनिनग्राड स्थित पुरातत्व संस्थान के प्रोफेसर यूरी जेड्नेप्रोह्वस्की ने 20 जून 1967 को नई दिल्ली में एक पत्रकार सम्मेलन में कहा था कि भारत और मध्य एशिया के बीच संबंध लगभग एक लाख वर्ष पुराने हैं अर्थात् पाषाण काल से हैं तथा यह स्वाभाविक है कि जैन धर्म मध्य एशिया में फैला हुआ था।14

प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासवेत्ता श्री जे.एस.दुबे ने लिखा है कि एक समय था जब जैन धर्म का कश्यप सागर से लेकर कामचटका की खाड़ी तक खूब प्रचार–प्रसार हुआ था। न केवल यह बल्कि जैन धर्म के अनुयायी यूरोप और अफ्रीका तक में विद्यमान थे।15

इसी प्रंकार मेजर जनरल जे.जी.आर. फरलॉग ने लिखा है कि अक्सियाना, कैस्पिया, वल्ख और समरकन्द नगर जैन धर्म के आरंभिक केन्द्र थें।16

ऋषभदेव ने बहली (बैक्ट्रिया, बलख), अंडवइलला (अटक प्रदेश), यवन (यूनान), सूवर्ण भूमि सुमात्रा, पण्हव (प्राचीन पयाथिया) वर्तमान ईराक का एक भाग आदि देशों में बिहार किया था। भगवान अरिष्टनेमी दक्षिणापथ के मलय देश में गए थे। जब द्वारका दहन हुआ था, तब अरिष्ट नेमि पण्हव नामक देश में थे।17

कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रंथ में लिखा है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरूष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थें।ये नेमिनाथ ही स्कॅडिनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम फो नामक देवता थे।18

मिश्र और यूनान में ऋषभदेव की प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनों का प्रमुख हाथ रहा है। जैनों में बड़े–बडे व्यापारी और राजनीतिवेत्ता होते आए हैं तथा प्राचीन काल में जो विदेशों से विश्वव्यापी व्यापार प्रचलित था उसमें जैनों का प्रमुख हाथ था।24

संदर्भ सूची

1. श्रीमद् भागवत-11/2, मनुस्मृति आदि
2. Major General J.G R Furloug : Science of Comparative Relegions
3. ऋग्वेद 10/102/6, 1/16/9/1, 2/4/19, 2/4/1/10 और 1/16/9/0.
4. Epic of GILGAMESH-published from Great Britain.
5 Pran Nath Vidyalankar- The times of India 19.3.1935.
6. जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान–डा. रामचंद्र, पृ.164
7. अरब और भारत के संबंध–मौलाना सुलेमान नदवी पृ.176
8. ट्रेवल्स ऑफ ह्वेनसांग–सेमुअल बील खंड–2 पृ.205
9. Science of comparative Reglıgions-Major J.G.R. Furloug.
10. Indian Express, New Delhi 21 6 1967.
11. The Description of Character, Manners and Customs of the people of India and their Institutions, Religions and civil.- East India Company 1817.
12. Short studies in the Comparative realisions 1887-intro.
13. जैन परम्परा का इतिहास, जैन विश्वभारती पृ.112,113
14. Colonal Todd Annals and Antiquities of Rajasthan.
15. हिमालय में भारतीय संस्कृति, विशम्भरसहाय प्रेमी, मेरठ पृ. 44

–233, राजधानी एन्क्लेव
शकूरबस्ती, दिल्ली-34

प्राकृत भाषा

-ले. पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'

'जयदु जिणंदाण असेसभासपरिणामिणी वाणी'

समस्त भाषाओं में परिणमन करनेवाली जिनेन्द्र की वाणी जयवंत होवे।

'देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति।

तम्हा अणाइपाइअपयट्टमासाविसेसओ देसी।।'

देश विशेषाणामनन्तत्वात्पुरूषायुषेणापि न सर्वसंग्रह स्यात्।

तस्मादनादिप्रवृत्तप्राकृतभाषाविशेष एवायं देशी शब्देनोच्यते।'

प्रदेश अनन्त हैं और पुरूष की पूर्ण आयु में भी सर्व (भाषाओं) का संग्रह नहीं हो सकता : इसलिए अनादिकाल से प्रवृत्त प्राकृत भाषा विशेष ही देशी (भाषा) शब्द से कही गई है। अर्थात् विभिन्न देशोंकी प्रकृति–प्रदत्त भाषाएँ ही प्राकृत हैं–सभी को अभेदरूप से देशी भाषा कहा गया है। ।।देसी नाममाला।। और 'देसी शब्दों के रूप बदलते नहीं हैं'–प्राकृत विद्या 8/1 पृ. 20

उक्त कथन से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा के प्रचलित अन्य भेद–तद्भव और तत्सम आदि, मूल–प्राकृत के नहीं हैं और ये बाद की उपज हैं। क्योंकि अनादि प्राकृत भाषा–अन्यभाषाओं के उद्भव–पूर्व होने से किसी अन्यभाषा से उत्पन्न अथवा किसी भाषा के सम नहीं हो सकती। अत प्राकृतभाषा में तद्भव या तत्सम भेद नहीं हो सकते और यदि भेद माने जाते हैं तो प्राकृत को अनादिप्रवृत्त भाषा नहीं माना जा सकता।

वस्तु स्थिति ऐसी है कि–उक्त 'तद्भव' और 'तत्सम' जैसे भेद संस्कृत वैयाकरणों द्वारा तब स्थापित किए गए जब उन्होंने प्राकृत से अनभिज्ञ संस्कृतज्ञों को संस्कृत के शब्दों द्वारा प्राकृत शब्दों को निष्पन्न करने की विधि समझाने का प्रयत्न किया और इसी हेतु उन्हे संस्कृत भाषा में नियम देने पड़े। इस विधि में जो शब्द उन्हें संस्कृत से समान दिखे उन्हें 'तत्सम' कह दिया और जिन शब्दों को उन्होंने संस्कृत से निष्पन्न किया उन्हें 'तद्भव' कह दिया।

इसी दृष्टि से आचार्य हेमचंद ने 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसा सूत्र दिया। अर्थात् हमारे द्वारा रचित व्याकरणमें प्राकृत शब्दों के ज्ञान में संस्कृत–आधार भाषा है। ऐसा उनका मन्तव्य है। ऐसे कथन से उन लोगों के भ्रम का उच्छेद हो जाता है जो संस्कृत भाषा को प्राकृत भाषा से प्राचीन मानते हों।

विश्वहिन्दी कोशकार ने इस विषय को स्पष्ट ही कर दिया–

'तब प्राकृत के वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति क्यों कहा? इसका

कारण उन व्याकरणों के रचे जाने के काल और उनके स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट समझ में आ जाता है। वे व्याकरण उसकाल में लिखे गए जब विद्वत्समाज में प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का अधिक प्रचार और सम्मान था। वे लिखे भी संस्कृत भाषा में गए हैं तथा उनका उद्देश्य भी संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत का स्वरूप समझाना है, जिनका उपयोग उन्हें संस्कृत नाटकों में भी प्राकृतिकता रखने के लिए करना पडता था। .... अतएव उन वैयाकरणों ने संस्कृत को आदर्श ठहरा कर उससे जो विशेषताएँ प्राकृत में थीं उनका विवरण उपस्थित कर दिया और इसकी सार्थकता–संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहकर सिद्ध कर दी।'

–हिन्दी विश्वकोश, खंड 7 पृष्ठ 497

डॉ. नेमीचंद, आरा ने स्पष्ट ही लिखा है कि–'प्राकृत भाषा में ईस्वी सन् की प्रथम द्वितीय शताब्दी तक उपभाषाओं के भेद दिखलाई नहीं पडते।' 'मध्ययुगी प्राकृत का सबसे प्राचीन व्याकरण चण्डकृत 'प्राकृत लक्षण' है। यह अत्यंत संक्षिप्त है।'–प्रा.भा आलोचनात्मक इतिहास।

स्मरण रहे कि इतिहासज्ञो ने चण्ड और वररुचि आदि वैयाकरणों का काल ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद का माना है और यही काल संस्कृत भाषा में रचित व्याकरणों की रचना का प्रारम्भिक काल है। इन वैयाकरणो ने जैसा कि हिन्दीविश्वकोशकार ने लिखा है। सस्कृतज्ञो के परिचितार्थ सस्कृत मे प्राकृत व्याकरणो का निर्माण किया। सभी वैयाकरणों ने विस्तृत और अभेदप्राकृत को देश-भेद की अपेक्षा विविध शब्द रूपो में विभक्त कर दिया। यथा मगध में बोली जाने वाली शब्दावलि को मागधी, शूरसेन जनपद में बोली जाने वाली शब्दावलि को शोरसेनी व महाराष्ट्र की बोली को महाराष्ट्री प्राकृत आदि के नाम से संबोधित किया। इसका तात्पर्य ऐसा है कि उसकाल से पूर्व प्राकृत भाषा सामान्य रूप में व्यवहृत होती थी। क्योंकि स्वाभाविक बोली से व्याकरण का संबध नहीं है। बोली पहिले होती है और उसका व्याकरण बाद में बनाया जाता है।

उक्त स्थिति में जो लोग प्राकृत सामान्य को किसी एकरूप में बाँधना चाहते थे, वे स्वयं ही स्व-निर्मित नियमों में संदेहशील थे। फलतः उन्होंने नियमों के लागू करने में 'प्रायः, बहुल, क्वचित्, वा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने 'बहुलम्' जैसे सूत्र देकर स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि हम जिन नियमों को दे रहे है वे नियम सर्वथा ही सर्वत्र नहीं होते अर्थात् चूंकि ऋषियों की भाषा आर्ष कहलाती है और आर्ष में शब्दरूपों की बहुलता होती है। यानी–

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्य एव।'

कहीं नियम प्रवृत्त होता है, कहीं प्रवृत्त नहीं होता, कहीं कोई नियम विकल्प से होता है और कहीं नियम के विपरीत भी होता है और यही आर्ष प्राकृत का प्राचीनतमरूप है। उक्त कथन से सिद्ध है कि प्राकृत भाषा किसी व्याकरण से बद्ध नहीं है–वह स्वाभाविक बोली है। नमि साधु ने कहा भी है–

'सकलजगज्जंतूनां व्याकरणादिभिरनाहित सस्कारः सहजो वचन व्यापार, प्रकृतिः तद्‌भवं सैव प्राकृतं। .. प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबंधनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति।'

—व्याकरणादि के संस्कार से विहीन समस्त जगत् के प्राणियों के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक, महिला आदि की समझ में यह सरल से आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह कारणभूत है। मेघधारा के समान एकरूप और देश–विशेष के कारण या संस्कार के कारण जिसने विशेषता प्राप्त की है और जिसके सत् संस्कृत आदि उत्तर विभेद है–उसे संस्कृत कहते हैं।'

जो लोग ऐसी आवाज उठाते रहे हैं कि व्याकरण पढे बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है, वे भाषा–विज्ञान के नियमों से अनभिज्ञ हैं। भाषाओ के अपने अपने विभिन्न नियम हैं, वे सब नियम विकसित है। प्राकृत भाषा तो प्राणी की जन्मजात बोली है, उसमें–

'यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र व्याकरणं।
श्वजनो स्वजनो माभूत् शकलं सकलं सकृत शकृत्।।'

जैसी आपत्तियां खडी नही होती। क्योंकि आगमिक भाषा अर्धमागधी (और कथित शौरसेनी में भी) उक्त शब्दो के रूपो मे (उनके देशी होने के कारण) कदापि परिवर्तन नहीं होता। यत· उक्त प्राकृतों मे शकार को स्थान ही नही है, उनमे सदा ही सकार का प्रयोग होता है–'श्वजन' को सदा 'स्वजन,' 'शकल' को सदा 'सकल,' और 'शकृत् को सदा 'सकृत' ही बोला जाता है। ऐसे में अर्थ के अनर्थ होने की सम्भावना ही नही होती। ऐसे मे स्पष्ट है कि–व्याकरण सदा संस्कार की गई यानी संस्कारित भाषा में ही प्रयुक्त होता है और यह नियम है कि संस्कृत यानी संस्कार की गई भाषा सदा ही मूलभाषा की पश्चाद्वर्ती होती है। जब कि प्राकृत अनादि और देशी भाषा है जिसमें कोई भी परिवर्तन नही होता–सभी शब्दरूप यथास्थिति में ही रहते हैं।

कुछ लोगों का ख्याल है कि दिव्यध्वनि मागध जाति के देवों द्वारा भाषातिशय को प्राप्त हुई। अत· उसको मागधी कहा गया। परन्तु पं प्रवर आशाधर तथा सहस्रनाम की श्रुतसागरी टीका से स्पष्ट है कि इस भाषा का नामकरण 'सर्वभाषामयीगी' तथा 'अर्धमागधी' देश विशेषों के आधार पर हुआ तथाहि–'सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य,' 'अर्धमगधदेशभाषात्मकं अर्ध च सर्वभाषात्मकम्।' फलतः हम अर्ध– मागधी को समस्त देशों की मिश्रित भाषा मानने के पक्ष में हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि अर्धमागधी नाम की कोई भाषा होती तो आचार्य हेमचन्द्रादि ने उसका भी व्याकरण बनाया होता। उक्त तर्क स्वयं ही सिद्ध कर रहा है कि 'अर्धमागधी' सर्वभाषामयी होने से ही व्याकरणबद्ध न हो सकी, भला,

सर्वभाषागर्भित भाषा को किसी एक व्याकरण नियम में बांधना कैसे शक्य होता? यही कारण है कि प्रकृति प्रदत्त प्राकृत–भाषा अथवा मेघवर्षण की भांति स्वच्छन्द बिहार करती है। ऐसे में हम कैसे मान लें कि पं. प्रवर आशाधर जी व सहस्रनाम के टीकाकार श्रुत सागर जी महाराज वर्तमान शोधक विद्वानों से ज्ञान अथवा खोज में हीन थे? हमें तो आगम और पूर्वाचार्यों के वाक्य ही प्रमाण हैं। और इसलिए भी कि वे ख्याति लाभ पूजादि की चाह से निर्लिप्त थे और तब मनमाने परिवर्तन करने–कराने में कारण–भूत आर्थिक–पुरस्कारों का युग भी नहीं था। कोई पुरस्कृत तो वचन बदलते हुए भी प्रकाश में आ चुके हैं– जैसी कि समाचार पत्रों में चर्चा है।

माना जाय कि यदि मागध देवों के कारण मागधी नाम पडा तो 'अर्ध' कहां से आ गया? क्या वह भाषा अर्धरूप में मागध देवों की थी और अर्धरूप में जिनवर की थी? देव तो सर्वज्ञ होते नहीं तो उनकी भाषा को प्रमाण कैसे माना जाय? वे वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी भी नहीं होते।

हेमचन्द एवं वररुचि आचार्यो ने अपने व्याकरणों में कई स्थानों पर शब्दों की रचना में स्वीकृत उस भाषा को 'प्रकृति' कहा है, जिसके सूत्रों से उन्होंने प्राकृत शब्दों की सिद्धि की है। जैसे 'वृश्चिक' शब्द बिच्छुओं से बनाने के लिए उन्होंने 'वृश्चिके ञ्छः' सूत्र का निर्माण किया। इस सूत्र में मूलभूत संस्कृत भाषा का शब्द है, उस संस्कृत भाषा को प्रकृति कहा–न कि किसी प्राचीन परम्परा रूप ऐसी प्रकृति को, जिससे इंगित मूल भाषा का जन्म हो।

हेमचन्द ने तो प्रारम्भ में ही प्राकृत–शब्द सिद्धि में स्वयं के द्वारा अपनाई जाने वाली संस्कृत–भाषा को प्राकृत का मूल घोषित कर दिया। यानी उन्होंने संस्कृत को मूल–प्रकृति मानकर रचना की–इससे अन्य भाषाओं का परिहार हो गया। यदि कोई हिन्दी के 'बिच्छू' शब्द को मूल मानकर 'बिञ्छुओ' बनाना चाहे तो वह उपर्युक्त सूत्र से नहीं बना सकता। वररुचिने 'प्रकृतिशौरसेनी' जैसे जो सूत्र पैशाची और मागधी के संबंध में दिए है, वे भी इसी भाव में दिए हैं कि लोग अधिक प्रयास से बच जाएँ और संस्कृत व्याकरण से सिद्ध शौरसेनी शब्दों के आधार पर शब्दों की रचना करलें, यत दोनों भाषाएँ शौरसेनी की निकटवर्ती हैं।

यदि उक्त विधि को अमान्य कर देंगे तो 'शौरसेनी' के प्रसंग में उन्होंने 'प्रकृति संस्कृतं' ऐसा कहा है, उसे भी मानना पडेगा और शौरसेनी की अपेक्षा संस्कृत प्राचीन ठहरेगी और शौरसेनी का जन्म संस्कृत से मानना पड़ेगा। जो हमें व जैन शासन को मान्य नहीं है। आशा है विज्ञजन 'प्रकृति शौरसेनी' की रट को छोड़ेंगे–यतः शौरसेनी परवर्ती और प्राकृत का एक भेद है और प्रसंग में प्रकृति का अर्थ उस मूल भाषा शब्द से संबंधित है जिससे प्राकृत शब्द साधा गया है। ☐☐

जैन वाङ्मय के अध्येताओं का अन्वेषणीय विलुप्त जैनागम–एक दिशा

ब्र. संदीप जैन 'सरल'

तीर्थंकरों की पवित्र वाणी गणधरों ने सुनी और उसे ग्रन्थरूप में गूंथकर अपने शिष्यों को सुनाते रहे। इस प्रकार श्रुतानुश्रुत परम्परा से उनके दिव्य उपदेश भव्यजनों को समानता का पाठ पढ़ाते रहे। श्रुत सुने गये, उपदेश स्मृति द्वारा नूतन पीढ़ी के लिये मौखिक ही प्राप्त होते रहे। काल बदला स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी, तब युगप्रधान आचार्यों ने उन छिन्न–भिन्न उपदेशों को लिपिबद्ध किया। उन सूत्रात्मक उपदेशों को मूल आधार बनाकर अनेकानेक आचार्यो एवं जैन साहित्यकारों ने विभिन्न भाषाओं में जैनवाङ्मय को समृद्ध किया है।

धर्म जाति और समाज की स्थिति में जहाँ संस्कृति मूल कारण है, वहीं इनके संवर्धन एवं संरक्षण में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृति और साहित्य दोनों जीवन और प्राणवायु सदृश परस्परापेक्षी हैं। जहाँ एक ओर हमारे आचार्यो ने प्रचुर मात्रा में जैन वाङ्मय की रचना की है, तो वहीं दूसरी ओर उदार, मनीषी श्रावकों ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए उन शास्त्रों की हजारों की संख्या में प्रतिलिपियाँ करवाकर हर मंदिर में शास्त्रभण्डारों की स्थापना करवाई। पिछले समयों में बड़े–बड़े उतार–चढ़ाव आये। मुगल साम्राज्य और धर्म विध्वंसिओं ने जैन वाङ्मय और संस्कृति को नष्ट करने में अपनी अहम् भूमिका निभाई है, इस बात के लिये इतिहास साक्षी है। पर हाँ इतना तो अवश्य है कि, उस समय भी यदि संस्कृति, साहित्य और धर्म के प्रेमी नहीं होते तो हमें जो साहित्य सुलभ दिखाई दे रहा है, वह प्राप्त न हो पाता।

यह सर्वविदित है कि आज समूचे भारत–वर्ष में हमारे शास्त्र–भण्डार जैनागम से विपुल भरे हैं। बहुत आगम लुप्त होने के बाद भी वर्तमान में उपलब्ध आगम का भी पूर्ण आकलन नहीं हो पा रहा है। साथ ही आज के इस मुद्रण युग में हमारे हस्तलिखित ग्रन्थों की घोर उपेक्षा हुई है। हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ हमारी संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। इनमें हमारे आत्मिक उत्थान–पतन की कहानी समाहित है। आज ये पाण्डुलिपियाँ चूहों एवं दीमकों के लिये समर्पित कर दी गई हैं। आज आवश्यकता है निस्वार्थ, समर्पित कार्यकर्ताओं की, जिससे इस अमूल्य धरोहर को सुरक्षित, संरक्षित, प्रचारित और प्रसारित किया जा सके। इतना अवश्य है कि इस दिशा में कार्य करने वाले मनीषियों ने समय–समय पर श्रम–साध्य कार्य भी किया

है। किन्तु अभी भी काफी अवशेष है।

सम्पूर्ण भारत–वर्ष के सुदूर अञ्चलों में स्थापित जिनालयों के शास्त्र–भण्डारों का अवलोकन करके सूचीकरण करवाया जावे। पाण्डुलिपियों के संग्रहालय स्थापित किये जावें। जहाँ पर उनको लेमिनेशन अथवा माइक्रो–फिल्म द्वारा सुरक्षित रखा जावे। प्राचीनकाल से ही समाज को दिशा–बोध देने में पूज्य मुनिराजों की अग्रणीय भूमिका रही है। उनका प्रभाव सर्वत्र रहता है।

यदि हमारे पूज्य मुनिराजगण इस दिशा में थोडा सा भी ध्यान आकृष्ट कर लें तो यह महत्वपूर्ण समयोपयोगी कार्य शीघ्र ही हो सकता है।

मेरी रूचि इन प्राचीन पाण्डुलिपियों के प्रति अत्यधिक है। इनके प्रति आत्मीयता के कारण बीना (सागर) म.प्र. में "अनेकान्त ज्ञान मंदिर' की स्थापना करवाकर और इसी को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण का कार्य प्रारंभ किया है। कार्य लम्बा है और श्रम–साध्य है। श्रुत–भक्ति के फलस्वरूप अल्प समय में चार प्रान्त (मध्मप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान एवं बिहार) के शताधिक शास्त्र भण्डारो का अवलोकन कर चुका हू और सहस्राधिक पाण्डुलिपियों को बीना स्थित "पाण्डुलिपि संग्रहालय" में सूचीकरण करके लेमिनेशन द्वारा सुरक्षित कर विराजमान करवा दी हैं। अब जरुरत है कि, साहित्य मनीषी एवं अन्वेषकों की कि वे इन पाण्डुलिपियों का भरपूर उपयोग करें।

मेरी इस "शास्त्रोद्धार शास्त्र सुरक्षा" की साधना का अभिप्रेत–फल तो अब प्राप्त हुआ है कि राजस्थान प्रान्त के सर्वेक्षण के दौरान 'पिड़ावा' (झालावाड़) जाने का अवसर मिला। उधर के शास्त्र–भण्डारो से एक ऐसी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है कि वह आगम अन्वेषकों के लिये अपनी विलुप्त जैनवाङ्मय की खोज के लिये मील का पत्थर बनेगी। यह पाण्डुलिपि एक पोथीनुमा है। और इसमें प्राचीन जैन आचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थों की नामावली दी हुई है। इस पाण्डुलिपि में उल्लिखित ग्रन्थो के नामों का कई ग्रन्थों के साथ समीक्षात्मक अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं कि बहुत सी अचर्चित अज्ञात विलुप्त जैन कृतियों का उल्लेख है। ये रचनायें आज तक किसी मनीषी की दृष्टि में नही आ पायीं थीं। इस लेख में कुछ अज्ञात अनुसंधान रचनाओं का उल्लेख कर रहा हूँ। हमें आशा है कि हमारे विद्वान, मनीषी इन रचनाओं की खोज करके, उन रचनाओं को प्रकाश में लाने का कार्य करके जैन वाङ्मय की वृद्धि करेंगे।

(1) **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** :– इनकी उपलब्ध रचनाओं के अतिरिक्त दो रचनाओं का उल्लेख प्राप्त हुआ है। (1) पञ्च वास्तुक (2) पूजा कल्प।

(2) **आचार्य अकलंकदेव** :– आप न्याय के निष्णात विद्वान थे। आपकी उपलब्ध रचनाओं के अतिरिक्त कुछ कृतियों का उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है :– चूर्णि, महाचूर्णी, प्रयाश्चित ग्रन्थ।

(3) **आचार्य विद्यानन्द स्वामी** :– ऐसे सारस्वत हैं जिन्होने प्रमाण और दर्शन

सम्बंधी ग्रन्थों की रचनाकर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया है। अभी तक प्राप्त रचनाओं के अतिरिक्त इनकी एक कृति **तर्क-परीक्षा** का उल्लेख मिला है, यह कृति पत्र–पत्रिका से पृथक् है।

(4) **आचार्य प्रभाचन्द** :– आपकी उपलब्ध रचनाओं के अतिरिक्त एक न्याय विषयक रचना "प्रमाणदीपक" का उल्लेख मिला है।

(5) **आचार्य वीरसेन स्वामी** :– आपकी न्याय विषयक रचना "प्रमाणनौका" अन्वेषणीय है।

(6) **आचार्य जिनसेन स्वामी** :– आपके दो ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है। सैन्य काण्ड और निमित्तदीपक

(7) **अभिनवधर्म भूषण** :- आपकी न्याय विषयक एकमात्र रचना "न्याय दीपिका" बहुचर्चित रचना है। किन्तु एक और न्याय कृति "प्रमाण–विस्तार" ज्ञात हुई है।

(8) **प्रभादेव स्वामी** :– सम्भवत: इन आचार्यों के बारे में भी कुछ जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं होती है। इनकी अज्ञात कृतियॉ निम्न प्रकार से हैं :–

{1} प्रमितिवाद {2} युक्तिवाद {3} अव्याप्तिवाद {4} तर्कवाद और {5} नयवाद। ये सभी रचनायें न्याय विषयक है।

(9) **वादिराज स्वामी** :–इनकी "वाद मञ्जरी" न्याय वाद विषयक रचना है।

(10) **धर्म सागर** : आप सिंह संघ के थे। अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। आपकी निम्न रचनायें हैं :–

{1} जीव–विचार, {2} सप्ततत्वी, {3} नवपदार्थी, {4} द्रव्यचक्र।

(11) **वादिसिंह स्वामी** :– वादीभसिह से प्रथक हैं। आपकी कृतियॉ निम्न हैं

{1} तर्क–दीपिका, {2} धर्म–सग्रह।

(12) **जोगदेव स्वामी** :– इनकी रचना हैं 'श्रावक प्रायाश्चित ग्रन्थ'।

(13) **कुमार विन्दुमुनि** :– आप भी अज्ञात सृजनकर्ता है आपकी रचना 'निमित्त संहिता' है।

(14) **उग्राचार्य** :– आयुर्वेद से सम्बंधित 'कनकदीपक' वैद्यक–ग्रन्थ रचा है।

(15) **अमरकीर्ति आचार्य** :– इनके बारे में भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु इन्होंने स्वयंभू स्तोत्र एवं जिन सहस्रनाम् स्तोत्र पर संस्कृत टीका रची है जो अन्वेषणीय है।

आचार्यों के अतिरिक्त भट्टारकों ने भी समय–समय पर ग्रन्थों का प्रणयन करके जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया है। नीचे कुछ भट्टारकों के विलुप्त ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं :–

(1) वर्द्धमान भट्टारक :– सम्भवत: आप न्याय दीपिकाकार धर्म भूषण के गुरू हैं। आपकी रचना है 'तत्वविनिश्चय'।

(2) भट्टारक जिनेन्द्र भूषण :– इनकी एकमात्र कृति का उल्लेख प्राप्त हुआ

है। 'जिनेन्द्र माहात्म्य' यह विशालकाय 84000 श्लोक प्रमाण संस्कृत रचना है।

(3) भट्टारक जसकीर्ति :– इनका रचित 'जग सुन्दर वैद्यक' ग्रन्थ है।

(4) भट्टारक सकलकीर्ति :– आपने बहुत से ग्रन्थों का प्रणयन किया था। आपकी उपलब्ध रचनाओं के अतिरिक्त एक व्याकरण विषयक रचना 'रूपमाला व्याकरण लघु' का उल्लेख प्राप्त हुआ है।

(5) भट्टारक शुभचन्द्र :– आपके दो ग्रन्थ हैं। एक न्याय विषयक 'अपशब्द खण्डन' एवं दूसरा व्याकरण विषयक 'चिन्तामणि व्याकरण लघु' ज्ञातव्य है।

(6) भट्टारक प्रभाचंद :– आपकी रचना देवागम पंजिका है जो देवागम स्तोत्र पर संस्कृत टीका है।

इस लघु लेख में 15 आचार्यों की 28 रचनाओं का और 6 भट्टारकों की 7 रचनाओं का जिक्र किया है। कुल 35 कृतियों में से 12 कृतियाँ न्याय विषयक हैं जो न जाने हमारे प्रमाद के कारण किस शास्त्र भण्डार में चूहों और दीमकों के कारण नष्ट हो गईं हों अथवा समाप्ति के कगार पर हों।

जैन न्याय के वयोवृद्ध, ख्याति प्राप्त विद्वान, न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, बीना ने हर्ष व्यक्त करते हुए कहा कि ये सभी रचनायें अज्ञात, विलुप्त एवं दृष्टि ओझल है। इनकी खोज विद्वतवर्ग अवश्य करेगा। इस लेख के प्रेरक प्रेरणा स्रोत आप ही हैं।

न मैं विद्वान ही हूँ और न लेखक। फिर भी अपने भावों को लिपिबद्ध करने का जो प्रयास किया है, इसका एकमात्र कारण यह है कि जैन वाङ्मय की सुरक्षा, संवर्धन और संरक्षण की भावना रगरग में समाहित है। मेरा इसमें स्वयं का कुछ नहीं है। इसको तैयार करने में मैंने जिन आचार्यों की कृतियों का सहारा लिया है उनके प्रति नतमस्तक हूं। साथ ही अपने गुरूवर परम पूज्य श्री 108 सरलसागर जी के आशीर्वाद स्वरूप इस दिशा में कदम बढाया है उनके लिये भी नमोऽस्तु। कृतज्ञ हूं वयोवृद्ध न्यायाचार्य डॉ. कोठिया जी का जिनकी प्रेरणा इस लेख में रही।

इस लेख को पढकर विद्वान मनीषी–गण हमारे विलुप्त, अन्वेषणीय जैन वाङ्मय की खोज करने के लिये दो पग भी बढ़ा सकें तो मैं इस श्रम को सार्थक समझूंगा।

द्वारा : अनेकान्त ज्ञान मंदिर
छोटी बजरिया, बीना-470113
जिला सागर (म.प्र.)

जोगीमारा/सीताबेंगा के भित्तिचित्र

डॉ. अभयप्रकाश जैन

सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ियों में जोगीमारा तथा सीताबेंगा नामक गुफायें पास पास हैं। इनका काल 300–200 ई0पू0 माना जाता है। सीतागुफा एक प्रेक्षागार (नाट्यशाला) थी। इसी के निकट दूसरी गुफा जोगीमारा है। पहले इसे एक देवदासी का निवास स्थान समझा गया था पर उसमें प्राप्त शिलालेख का जो नवीन अर्थ किया गया है उसके अनुसार वह वरुण का मंदिर था जिसकी सेवा में सुतनुका नामक देवदासी रहती थी। अब आधुनिक विद्वान इसे जैन साक्ष्यों के आधार पर तथा प्राकृत में ब्राह्मी शिलालेख के फिर से पाठ करने पर जैनकृति मानते हैं। जोगीमारा गुफा दस फीट लम्बी और छह फीट चौड़ी है। इसकी छत में लाल रेखाओं द्वारा पैनल विभाजित करके चित्रांकन किया गया है। छत इतनी नीची है कि उसे हाथ से स्पर्श किया जा सकता है। ये भिन्न विश्व ऐतिहासिक काल की भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। डॉ0 ब्लाख (जर्मनी) शरतचंद घोषाल तथा असित कुमार हाल्दार ने इन गुफाओं के बारे में बहुत खोजबीन की है।

इन विद्वानों ने चित्रों का जो विवरण दिया है उसमें कहीं कहीं अंतर है इसका कारण तो यह हो सकता है कि किन्ही दो अभियानों के बीच जो समय का व्यवधान रहा है उसमें कुछ चित्र नष्ट हो गए हों दूसरा कारण चित्रो को ठीक से न समझना भी हो सकता है। डॉ0 लाख का परिचय इस प्रकार दिया है–

(1) केन्द्र में एक पुरूष एक वृक्ष के नीचे बैठा है बायीं ओर नर्तकियाँ और संगीतज्ञ हैं, दायीं ओर एक हाथी और एक जुलूस है।

भगवान ऋषभ और नीलंजना का नृत्य, और उनका वैराग्य इस भित्तिचित्र की आस्था है।

(2) कई पुरूष, एक पहिया और ज्यामितीय सरीखे और आभूषण (धर्मचक्र प्रवर्तन)

(3) इस चित्र का बहुत सा अंग नष्ट हो गया है। केवल फूलों, घरों और कपड़े पहने पुरूषों के चिन्ह बचे हैं। इसके बाद एक वृक्ष पर चिड़ियाँ बैठी हैं। फिर एक आदमी का चित्र है, आस पास कुछ व्यक्ति खड़े हैं, सभी नंगे हैं।

(4) पाल्थी मारे एक नग्न मुनि बैठे हैं पास ही तीन कपडे पहिने तीन व्यक्ति खड़े हैं बगल में तीन व्यक्ति और बैठे हैं। इस दल के पास तीन घोड़ोंसे खींची जाने वाली छत्रधारी गाड़ी, एक हाथी और महावत है फिर इसी प्रकार के पुरूष

चित्र हैं। एक घर में जिसमें चैत्यालय, खिड़की और हाथी भी दिखाया गया है।

श्री असित कुमार हाल्दार के अनुसार प्रथम चित्र लहरों को व्यंजित करने वाली गहरी तथा अलंकारिक रेखाओं में नदी एवं एक विशालकाय–शार्क मछली भी अंकित प्रतीत होती है इसी प्रकार चित्र नं. 3 में श्री हाल्दार के अनुसार कल्पवृक्ष तथा पत्तियाँ गेरुए रंग से बनाये गये हैं। काले रंग से उद्यान का चित्रण हुआ है। इसमें जो पुष्प हैं उन्हीं में से एक पर नृत्य करते हुए स्त्री पुरूष युगलिया भी चित्रित किए गये हैं। डॉ. ब्लाख ने प्रथम चित्र में नर्तकियों और संगीतज्ञों का उल्लेख किया है किन्तु श्री हाल्दार ने पांचवें पैनल में भूमि पर बैठी हुई एक स्त्री और कुछ संगीतज्ञों का नृत्य हुए चित्र बने होने का उल्लेख किया है। इस चित्र के हाल्दार का मत है कि इसकी रेखा में भी शैली से साम्य रखती है और चित्रों का संयोजन अजंता से पूरी तरह मिलता हुआ प्रतीत होता है।

श्री हाल्दार ने एक अन्य चित्र का भी उल्लेख किया है जिसमें छोटे छोटे बौने व्यक्ति अंकित हैं बौनों का अंकन वर्तमान के संदर्भ में है इससे आदमी के कद नैतिकता, आध्यात्मिकता को प्रतीकात्मकता के साथ दर्शाया गया है। चित्रकारों ने किसी अवधिज्ञानी की ज्ञानधारा से प्रेरणा लेकर भविष्यवाणी के आधार पर बौनी आकृतियों का चित्रण किया है।

श्री हाल्दार ने छठे एवं सातवें पैनलों में यत्र तत्र बची हुई रथों आदि की आकृतियों का उल्लेख किया है। उनके विचार से इनकी आकृति प्राचीन ग्रीक रथों से मिलती जुलती है। श्री मर्सी ब्राउन के अनुसार इन चित्रों के किनारों पर अनेक प्रकार के आलेखन जिनमें मछलियों मकरों तथा अन्यजल जन्तुओं का प्रयोग है। ऐसा लगता है ये Pictographs हैं इनकी अपनी प्रतीकात्मक भाषा है।

ये सब चित्र किस कथा से सम्बन्धित हैं यह ये विद्वान स्थपित नहीं कर पाये हैं। मूल चित्रों की रेखायें उन पर पुनः खीचीं गयी चित्राकृतियों में छिप गयी हैं। डॉ. गिर्राजकिशोर अग्रवाल के अनुसार बचे हुए भितिचित्रों के आधार पर इन चित्रों का विषय जैन सम्मत है।

जोगीमारा की गुफाओं में प्रायः सफेद, लाल तथा काले रंग का ही प्रयोग है। कहीं कहीं पीले रंग का आभास होता है पर उसे उड़े हुए लाल रंग का अवशेष माना जाता है। सफेद रंग खड़िया है, लाल रंग हिरोंजी तथा काला रंग हर्रा नामक फल से तैयार किया गया है।

चित्र बनाने में किसी घास से बनी तूलिका का प्रयोग किया है। प्रायः लाल रंग की रेखाओं से चित्र एक दूसरे से अलग किए गये हैं। धरातल को भी अच्छी तरह एकसा नहीं किया गया है। कहीं कहीं गुफा की खुरदरी दीवार पर बिना कोई अस्तर चढ़ाये ही चित्र अंकित कर दिये गये हैं और कहीं कहीं चूने का बहुत हल्का पलस्तर है। साधारण दृष्टि से देखने पर ये चित्र किसी अनाड़ी के हाथ की कृति प्रतीत होते हैं पर ध्यान देने पर पता चलता है कि पहले बने चित्रों के मूल रूप

को किसी ने अकुशल हाथों से उभारने का प्रयत्न किया है जिससे मूल चित्र दब गये हैं। इनकी शैली को हम अजंता पूर्व शैली स्थापित करते हैं जिसमें ओज एवं प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति है।

इस समय जोगीमारा के अतिरिक्त अनेक जैन अन्य गुफाओं को भी चित्रित किया गया होगा किन्तु भारत की जलवायु के कारण ये चित्र नष्ट हो गए हैं। सम्राट अशोक के महल की चित्रकारी तथा पत्थर की खुदाई के कार्य को देखकर चीनी यात्री फाह्यान यह कह उठा था कि उसे मनुष्य नहीं बना सकते। उस समय लकड़ी का प्रयोग भवन निर्माण में बहुतायत से होता था अतः उस समय की कला लकड़ी के साथ ही नष्ट हो गई। इसी प्रकार ईसा पू. प्रथम शती की कुछ गुफायें बम्बई पूना रेल मार्ग पर मलवली स्टेशन से आधा कि. मी. दूर पर हैं इनकी संख्या अठारह है इन्हें भाजा की गुफायें कहते हैं। इनमें में जैन प्रतीकों का चित्रांकन है।[3]

मेरा एक शोध आलेख 'हथफोर की रंगशाला' नाम से शोधादर्श में अस्सी के दशक में प्रकाशित हुआ था जहां तक रंगमंच के स्वरूप का सम्बन्ध है सीतामढ़ी तथा जोगीमढ़ा के अवशेष भारतीय रंगमंच के सबसे प्राचीन प्रत्यक्ष उदाहरण कहे जा सकते हैं इनके देखने से भरतकृत नाट्यशास्त्र आदि ग्रंथों में वर्णित नाट्यमंडपों का जीता जागता स्वरूप सामने आ जाता है।

इन दोनों गुफाओं का पुरातत्वीय महत्व बहुत अधिक है और प्रत्येक में प्राकृत भाषा में एक ब्राह्मी लेख खुदा है यह अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि में ही लिखे गये हैं अक्षरों की बनावट से डॉ के.डी. वाजपेयी ने इन्हें 200ई.पू. सिद्ध किया है। कुछ विद्वानों का मत है इन गुफाओं का निर्माण मौर्य कालीन लामशत्रर्षि गुफा आदि से पहले हुआ होगा। डॉ. ब्लाश ने 1904 में इन गुफाओं पर जर्मन भाषा में एक लेख लिखकर विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। सतनुका नामक नर्त्तकी का वर्णन इस प्राकृत लेख में है उसके प्रेमी का नाम देवदत्त था संभवतः इसी देवदत्त ने उक्त लेख गुफाओं में उत्कीर्ण कराये।

भरत ने नाट्य शास्त्र में कई प्रकार के नाट्य मंडपों का विवरण दिया है उन्होंने एक स्थान पर पहाड़ की गुफा के आकार वाले द्विभूमि नाट्यमंडप की चर्चा की है "कार्यःशैल गुटाकारो द्विभूमि नार्टय मंडपमुः (नाट्य शास्त्र 1/817)

नागवंशी/व्रात्य आदि अनार्य जातियों के बारे में कहा जाता है कि

कालिदास, भास, शूद्रक, भवभूति प्रख्यात विद्वानों के नाटक लोक नाट्य शैलगृहों में खेले जाते रहे हों संभव है। कुछ विद्वानों का मत है शैलगृहों में आदिवासी नृत्य नाट्य करते थे। आर्यों के आने पर खुले नाट्य गृहों का प्रयोग किया गया जो आकार में बड़े होते थे।

यथार्थ की परिभाषा में व्यतीत ही हमारा हमारा भोगा हुआ यथार्थ है और विरासत का संरक्षण हमारे कार्यों की सीमा गणना है। पुरातत्व हमें जिज्ञासु बनाता

है जब तक जिज्ञासा के द्वार खुले रहेंगे तभी ज्ञान वायु प्रवेश करेगी और ज्ञान की परिपक्वता से सत्य उजागर होगा। जैन वर्ग निरंतर सजग और संकल्पित होकर अपनी विरासत के प्रति सचेत रहकर ही अपने गौरव को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है।

संदर्भ:–

1. The lines of letter bear striking resemblance to those of an inferior Ajanta painting. The Picture though not so well executed as the caves at Ajanta] appears to be identical in design.

Ak. Haldar-Art and Tradition P/an (1952 Ed)

2. कला और कलम डॉ.जी.के. अग्रवाल पेज 48

3. T.P. Bhattacharya The Canım of Indian Art Page 327-337

4. मध्य प्रदेश का पुरातत्व –प्रो के.डी. वाजपेयी प्रकाशक संचालनालय पुरातत्व म.प्र भोपाल पृष्ठ 34/35

–एम.14 चेतकपुरी
ग्वालियर

(पृ. 36 का शेष)

तीर्थंकर का सिर–कुन्तलित केश, कर्णचाप युक्त जिन का सिर है।[7] बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा 11 वी शती ईस्वी की है।

सन्दर्भ सूची

1 मित्र रामचन्द्र हयारण "बुन्देलखण्ड की सांस्कृति और साहित्य" दिल्ली 199 पृष्ठ 163।

2. दीक्षित आर.के. "दि चन्देलस आफ जेजाक मुक्ति एण्ड देयर टाईम्स पी.एच.डी. थीरोष आगरा विश्वविद्यालय 1950। (अप्रकाशित) परिशिष्ट व क्रमांक 4 व शर्मा राजकुमार मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ भोपाल 1974 पृष्ठ 191 क्रमांक 748 एवं पृष्ठ 317 क्रमांक 1472।

3. मित्र रामचन्द्र हरायण पूर्वोक्त पृष्ठ 163।

4. संग्रहालय की मूर्तियां अंकित क्रमांक 38।

5. संग्रहालय की मूर्ति पर अंकित क्रमांक 34।

6. संग्रहालय क्रमांक एक।

7. संग्रहालय की मूर्ति पर अंकित क्रमांक 40।

–संग्रहाध्यक्ष
केन्द्रीय संग्रहालय
ए.बी. रोड़ (इन्दौर) म.प्र.

पापट संग्रहालय कुण्डेश्वर (टीकमगढ) की जैन प्रतिमायें

—ले. रामनरेश पाठक

कुण्डेश्वर टीकमगढ़ ललितपुर मार्ग के मध्य अवस्थित बुन्देलखण्ड का विशेष रमणीय स्थान है। यहां शिव जी का मंदिर है, इसके संबंध में यह जनश्रुति है, कि एक खटीक की वधू कुंडी में धान कूट रही थी, कि अनायास इस कुण्डी से दुग्ध की धार निकली और तद्पश्चात् शिवलिंग प्रकट हो गया। इसी कारण इस शिव मूर्ति को कुण्डेश्वर कहा जाता है और उसी काल से यहां का पुजारी उसी वंश का खटीक ही चला आ रहा है।[1] इसी मंदिर में एक नन्दी की प्रतिमा है, जिस पर विक्रम संवत् 1201 (ईस्वी सन् 1142) का लेख उत्कीर्ण है।[2]

मंदिर के समीप जमडार नदी का सुन्दर प्रपात है, जिसको उषा कुण्ड कहते हैं। इसी स्थान पर वाणासुर की पुत्री उषा नित्य प्रति स्नान करने आती थी और इसी स्थान पर उषा–अनिरूद्ध परिणय हुआ था। कुण्डेश्वर के वन उपवन और ऊषा कुंज, बरीधार, ऊषाधार, ऊषा विहार आदि बड़े ही रमणीय स्थल हैं। इसी स्थान पर पं बनारसी दास चतुर्वेदी ने बुन्देल खण्ड के सांस्कृतिक उत्थान के लिये अडिग साधना की थी।[3] जमडार नदी एवं शिव मंदिर के मध्य में एक कोठी बनी हुई है जो कुण्ड कोठी के नाम से जानी जाती है। इसी कोठी का निर्माण टीकमगढ़ के बुन्देला शासकों ने 19 वीं शताब्दी में करवाया था। इसी भवन में वर्तमान में पापट संग्रहालय स्थित है।

इस संग्रहालय की स्थापना जिला पुरातत्व संघ टीकमगढ द्वारा 1974 में की गई थी। प्रारम्भ से यह सग्रहालय शासकीय बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्र कुण्डेश्वर में था। जिस भवन में संग्रहालय की प्रतिमायें प्रदर्शित थी वहां पर नवोदय विद्यालय खुल जाने के कारण सितम्बर 1986 से यह स्थानान्तरित कर कुण्ड कोठी में स्थित है। संग्रहालय में टीकमगढ़ नगर, कुण्डेश्वर, मोहनगढ़, जतारा एवं टीकमगढ जिले के अन्य स्थानों से प्राप्त प्रतिमायें संग्रहीत है। इसके अलावा दिगोड़ा जिला टीकमगढ़ से प्राप्त ताम्रपत्र भी संग्रहीत है। संग्रहालय में पाषाण प्रतिमाओं का विशाल संग्रह है, जिनमें से जैन प्रतिमाओं का विवरण निम्नलिखित है :—

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्याय शालाओं एवं मंदिरों की मांग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
दूरभाष : 3250522
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष–५० किरण–३ जुलाई–सितम्बर ९७

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२

दूरभाष : ३२५०५२२

सुप्रीम कोर्ट ने श्वेताम्बरों की शिखरजी संबंधी याचिका खारिज की

जैनो के सबसे पवित्र तीर्थ श्री सम्मेद शिखर के मामले में पटना हाई कोर्ट की रांची बेच के फैसले के खिलाफ श्वेताम्बरो द्वारा दायर विशेष याचिका उच्चतम न्यायालय ने गुरुवार को खारिज कर दी। रांची बेच ने अपने निर्णय में बिहार सरकार को निर्देश दिया था कि वह श्री सम्मेद शिखर जी (पारसनाथ पर्वत) के प्रबंध के लिए दिगम्बर व श्वेताम्बर जैनो के पाच–पांच प्रतिनिधियो सहित एक सरकारी अधिकारी की अध्यक्षता मे सयुंक्त कमेटी गठित करे। श्वेताम्बरो ने इसके खिलाफ सुप्रीम कोर्ट मे विशेष याचिका दायर की जिसे मान्य न्यायाधीश एम एम पंछी एव न्यायमूर्ति एम श्रीनिवासन ने अपीलकर्ताओ के वकील एफ नरीमन की लंबी दलीलों को सुनने के बाद खारिज कर दिया। दिगम्बरो की ओर से वरिष्ठ अधिवक्ता सोली सोराबजी, आर के जैन, हरीश सालवे और डा डी के जैन ने पैखी की।

मान्य न्यायाधीश ने श्री नरीमन के इस तर्क को आधारहीन बताया कि रांची हाई कोर्ट ने अपने आदेश के जरिए श्वेताम्बरों को प्रबध के अधिकार से वचित किया है। न्यायालय ने कहा हाई कोर्ट ने अपने निर्णय के जरिए यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है कि श्वेताम्बरो के हित बिहार भूमि सुधार कानून के अतर्गत निहित हो जाने के बाद दोनो ही सम्प्रदायो का पारसनाथ पर्वत पर बराबर का अधिकार है। अत इस अदालत की नजर में ऐसा कोई कारण नही है कि हाई कोर्ट के फैसले मे हस्तक्षेप किया जाए।

स्मरणीय है कि राची बेच के मान्य न्यायाधीश पी के देव ने श्वेताम्बरो द्वारा दायर प्रथम याचिका को खारिज करते हुए इस बात को एकदम असत्य बताया था कि सेठ आनदजी कल्याणजी पारसनाथ पर्वत के मालिक हैं। उन्होने आगे कहा था कि पवित्र चरणो व तीर्थ पर श्वेताम्बरो के एकाधिकार का दावा मान्य नहीं है और सुझाव दिया था कि तीर्थ का विकास कर पूजा–अर्चना करने वालों तथा यात्रियो को समुचित सुविधाए प्रदान की जाए तथा विवाद को खत्म करने के लिए दोनो–दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायो के प्रतिनिधयो की एक सयुक्त कमेटी बना दी जाय। हाई कोर्ट खंडपीठ ने श्री देव के फैसले की पुष्टि करते हुए बिहार सरकार को ऐसी कमेटी गठित करने का निर्देश दिया था। मान्य न्यायाधीशों ने यह भी कहा था कि दिगम्बर यात्रियों के लिए पर्वत पर एक धर्मशाला की अत्यत आवश्यकता है।

नवभारत टाइम्स के सौजन्य से

अनेकान्त

वर्ष ५०	वीर सेवा मंदिर, २९ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जुलाई-सितम्बर
किरण ३	वीनिस २५२३ विस २०५४	१९९७

अब हम अमर भए न मरेंगे

तन कारन मिथ्यात दिये तजि, क्यो करि देह धरैगे।
अब हम अमर भए, न मरेगे।।

उपजै मरै काल तै प्राणी, तातै काल हरैगे।
राग दोष जगबध करत है, इनकौ नास करैगे।।
अब हम अमर भए, न मरेगे।।

देह विनासी मै अविनासी, भेद ग्यान करैगे।
नासी जासी हम थिर वासी, चोखे हो निखरैगे।।
अब हम अमर भए, न मरेगे।।

मरे अनतबार बिन समझै, अब सब दु ख विसरैगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर बिन सुमरै सुमरैगे।।
अब हम अमर भए न मरैगे।

कवि द्यानतराय जी

मुनित्व विहीन मुनि?

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।

यदि साधु अन्य द्रव्य को पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविधि कर्मो से बद्ध होता है।

दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसगं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिद पूजोवदेसो य।।

दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यो का सग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनियो की प्रवृत्ति है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।

जिसका शरीरादि पर पदार्थो मे परमाुण प्रमाण भी ममता भाव विद्यमान है वह समस्त आगम का धारक होते हुए भी सिद्धि को प्राप्त नही करता है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।

आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न आत्मा से भिन्न शरीरादि पर पदार्थो को. स्व–पर पदार्थो को नही जानने वाला भिक्षु कर्मो का क्षय कैसे कर सकता है?

–प्रवचन सार

ग्रन्थान्तरों में नियमसार की गाथाएँ

डा० ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

"नियमसार" १८७ गाथाओ मे निबद्ध आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचना है। इसकी भाषा जैन शौरसेनी प्राकृत है। इसमे श्रमण की आचार सहिता वर्णित है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ मे कुन्दकुन्द को समान आदर प्राप्त है। दोनो परम्परा के ग्रन्थो मे कुन्दकुन्द की गाथाएँ पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। सभव है ऐसी गाथाएँ कुन्दकुन्द से भी प्राचीन हो, जिन्हे कुन्दकुन्द सहित अनेक ग्रन्थकारो ने अपने ग्रन्थो का अग बनाया हो।

नियमसार की कतिपय गाथाएँ स्वय कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार, पचास्तिकाय एव भावपाहुड मे प्राप्त होती है। शौरसेनी के ही मूलाचार, भगवती आराधना, गोम्मटसार जीवकाण्ड प्रभृति ग्रन्थो मे भी पायी जाती है। अर्धमागधी के आवश्यक निर्युक्ति, महापच्चक्खाण प्रकीर्णक, आउरपच्चक्खाण प्रकीर्णक (१) आउरपच्चक्खाण प्रकीर्णक (२) वीरभद्र कृत आउरपच्चक्खाण प्रकीर्णक, चदावेज्झय प्रकीर्णक, तित्थोगाली प्रकीर्णक, आराधना पयरण, आराहणा पडाया (१) आराहणापडाया (२) एव मरणविभक्ति आदि ग्रन्थो मे नियमसार की गाथाएँ उपलब्ध होती है। इन ग्रन्थो मे प्राप्त गाथाओ के केवल भाषाई परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। नियमसार की सर्वाधिक २२ गाथाएँ मूलाचार मे मिलती है। नियमसार की ऐसी गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत है —

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।। नियमसार–२

नियमसार की उक्त गाथा सख्या–२ की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए–

मग्गो मग्गफलं तिय दुविह जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफल होई णिव्वाण।। मूलाचार–५/५

यहाँ उक्त गाथा का पूर्वार्ध यथावत् है, किन्तु उत्तरार्ध मे नियमसार के मग्गो मोक्खउवायो के स्थान पर मूलाचार मे "मग्गो खलु सम्मत्त" कहा गया है।

अइथूलथूल थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।। नियमसार–२१

यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड मे शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है, किन्तु उसमे भाव साम्य पूर्ण रूप से पाया जाता है। वह गाथा मूलरूप मे इस प्रकार है–

बादरबादर बादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च।
सुहम च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं।। गोम्मटसार जीवकाण्ड–६०३

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।। नियमसार–३१

इस गाथा की तुलना गोम्मटसार जीवकाण्ड की निम्न गाथा से की जा सकती है। यहाँ उत्तरार्ध यथावत् है तथा भावसाम्य भी है। यथा–

ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टतगो भविस्सो दु।
तीदो सखेज्जावलि हद सिद्धाण परमाणुं तु।। गोम्मटसार जीवकाण्ड–५७८

पुग्गलदव्व मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा।। नियमसार–३७

भावसाम्य की दृष्टि से उक्त गथा की तुलना पचास्तिकाय की निम्न गाथा से कीजिए–

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पोग्गदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु।।

पचास्तिकाय की निम्न गाथा से कीजिए–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसठाणं।। नियमसार–४६

यह गाथा कुन्दकुन्द के प्रवचनसार–२/८०, समयसार–४९ पचास्तिकाय–१२७, और भावपाहुड–६४ मे यथावत् रूप से उपलब्ध होती है।

गामे व णगरे वारण्णे वा पेच्छिऊण परवत्थुं।
जो मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव।। नियमसार–५८

इसकी तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से की जा सकती है –

गामे णगरे रण्णे थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं।
तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं।। मूलाचार ५/९४

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाण हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स।। नियमसार–६१

इस गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए–

फासुयमग्गेण दिवा जुगतर प्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूण परिहरंते णिरिया समिदी हवे गमण।। मूलाचार–१/११

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयण।
परिचता सपरहिदं भासासमिदी वदतस्स।। नियमसार–६२

इसकी तुलना मे मूलाचार की निम्न गाथा देखिए–

पेसुण्णहासकक्कसपरणिदाप्पप्पसंस विकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहण।। मूलाचार–१/१२

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स।। नियमसार–६५

उक्त गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए–

एगंते अच्चिते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी।। मूलाचार–१/१५

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणहि त मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोण वा होइ वचिगुत्ती।। नियमसार–६९

नियमसार की उक्त गाथा मूलाचार और भगवती आराधना मे यथावत् प्राप्त होती है। यहाॅ दोनो मूलरूप मे प्रस्तुत है–

जा रायादिणियत्ती मणस्य जाणहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती।। मूलाचार–५/१३५

जा रागदिणियत्ती मणस्य जाणहि त मणोगुत्ति।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती।।

भगवती आराधना–११८१/पृ० ५९५

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा।। नियमसार–७०

यह गाथा मूलाचार एव भगवती आराधना मे किचित् शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध है। यथा–

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा।। मूलचार–५/१३६

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हविद दिट्ठा।। भगवती आराधना–११८२,पृ०५९७

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो।
आलवण च मे आदा अवसेसं बोसरे।। नियमसार–९९

नियमसार की उक्त गाथा कुन्दकुन्द के ही भावपाहुड मे यथावत् रूप मे उपलब्ध है। यथा–

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलवणं च मे आदा अवसेसाइं बोसरे।। भावपाहुड–५७

प्रवचनसार मे नियमसार की गाथा का पूर्वार्ध ज्यो का त्यो मौजूद है। यथा–

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि।। प्रवचनसार–२/१०८

मूलाचार मे यह गाथा यथावत् प्राप्त है। यथा–

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवण च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। मूलाचार–२/९

आउरपच्चक्खाण तथा महापच्चक्खाण मे उक्त गाथा किचित् भाषागत परिवर्तन के साथ उपलब्ध है। यथा–

ममत्त परिवज्जामि निम्ममत्ते उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे।।

वीरभद्द, आउरपच्चक्खाण–१६/२४/२८३६

महापच्चक्खाण मे भी देखिए–

ममत्त परिजाणामि निम्ममत्ते उवट्ठिओ।
आलंवण च मे आया अवसेसं च वोसिरे।। महापच्चक्खाण–७/१०/१४५०

आदा खु मज्झ णाणे आदा मैं दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। नियमसार–१००

उक्त गाथा भावपाहुड मे क्रमाक ५८ पर यथावत् रूप से पायी जाती है। समयसार मे भी उसी रूप मे उपलब्ध है, किन्तु यहॉ विभक्ति–प्रयोग मे कुछ परिवर्तन हुआ है। यथा–

आदा खु मज्झ णाण आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।

–समयसार–२७७ (अमृतचन्द्र) समयसार–१८, २९५ (जयसेन)

समयसार में जयसेन के पाठ में उक्त गाथा दो बार आई है। मूलाचार मे भी देखिए–

आदा हु मज्झ णाणे आदा में दसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोए।। मूलाचार–२/१० (४६)

किचित् भाषागत परिवर्तन के साथ उक्त गाथा आउरपच्चक्खाण एव महापच्चक्खाण मे भी प्राप्त होती है। यथा–

आया हु महं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।।
आया पच्चक्खाणे आया मे संवरे जोगे।।

वीरभद्र/आउरपच्चक्खाण १६/२५/२८३७

महापच्चक्खाण मे "सवरे" के स्थान पर "सजमे" पाठ आया है। यथा–

आया मज्झ नाणे आया में दंसणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे आया में संजमे जोगे।। महापच्चक्खाण–७/११/१४५१

मरणविभक्ति मे भी देखिए–

आया पच्चक्खाणे आया मे संजमे तवे जोगे।
जिणवयणविहिविलग्गो अवसेसविहिं तु दंसे हं।।

मरणविभक्ति–५/२१६/९६५

यहा उक्त गाथा का उत्तरार्ध प्राय पूर्वार्ध से मिलता है।

एगो मरदि य जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादिमरणं एगो सिज्झदि णीरयो।। नियमसार–१०१

यह गाथा किचित् शब्द परिवर्तन के साथ मूलाचार मे देखिए–

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्य जाइमरण एओ सिज्झइ णीरओ।। मूलाचार–२/११ (४७)

उक्त गाथा भाषागत परिवर्तन के साथ महापच्चक्खाण मे इस प्रकार है–

एक्को उप्पज्जए जीवो, एक्को चेव विवज्जई।
एक्कस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरओ।। महापच्चक्खाण–७/१४/१४५४

वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे देखे–

एगो वच्चइ जीवो एगो चेवुववज्जई।
एगस्स होइ मरण एगो सिज्झइ नीरओ।।

वीरभद्द/आउरपच्चक्रवाण–१६/२६/२८३८

चदावेज्झय मे भी देखिए–

एगो जीवो चयइ, एगो उववज्जए सकम्मेहिं।
एगस्स होइ मरणं एगो सिज्झइ नीरओ।। चदावेज्झय–३/१६१/६४८

फुटनोट।

उक्त गाथा भाषा एव शब्द परिवर्तन के साथ आउरपच्चक्खाण (२) मे उपलब्ध है, किन्तु भावसाम्य तो है ही। यथा–

एक्को जायइ जीवो मरई उप्पज्जए तहा एक्को।
ससारे भमइ एक्को एक्को च्चिय पावई सिद्धिं।।

आउरपच्चक्खाण (२)–१३/२९/२६०७

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। नियमसार–१०२

नियमसार की यह गाथा भावपाहुड, मूलाचार, महापच्चक्खाण, चदावेज्झय, आराहणापयरण, आउरपच्चक्खाण (१) तथा वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे पायी जाती है। यथा–

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। भावपाहुड–५९

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। मूलाचार–२/१२(४८)

एक्को मे सासओ अप्पा नाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। महापच्चक्खाण–७/१६/१४५६

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। चदोवेज्झय–३/१६०/६४८

–आराहणापयरण–५/६७/२५८६
–आउरपच्चक्खाण (१)–६/२९/१४३९
–वीरभद्र/आउरपच्च १६/२७/२८३९

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिराकारं।। नियमसार–१०३

उक्त गाथा मूलाचार, वीरभद्द के आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्वाण तथा मरण–विभक्ति मे उपलब्ध होती है। ग्रन्थान्तरो का मूलपाठ निम्न प्रकार है–

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।। मूलाचार–२/३

जं किंचि वि दुच्चरिय तं सव्व वोसिरामि तिविहेण।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागार।।

वीरभद्र/आउरपच्चक्खाण–१६/१९/२८३१

जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निदामि सव्वभावेण।
सामाइयं च विविहं करेमि सव्व निरागारं।। महापच्चक्खाण–७–३/१४४३

जं किंचि वि दुच्चरियं तमह निंदामि सव्वभावेण।
सामाइयं च मि तिबिहं तिविहेण करेमऽणागरं।। मरणविभक्ति–५/२११/९६०

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए।। नियमसार–१०४

यह गाथा मूलाचार मे दो बार, वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे दो बार तथा आराहणापडाया मे मिलती है। महापच्चक्खाण तथा आउरपच्चक्खाण (१) मे उक्त गाथा का पूर्वार्द्ध यथावत् मिलता है। उनका मूलपाठ इस प्रकार है–

सम्मं में सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए।। मूलाचार–२/६

उक्त गाथा मूलाचार ३/३ मे भी प्राप्त होती है।

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए।।
वीरभद्र/आउरपच्चक्खाण–१६/२२/२६३४

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिमणुपालए।।
वीरभद्र/आउरपच्चक्खाण–१६/१४/२८२६

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ ण केणइ।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिमणुपालए।। आराहणापडाया–१/५६४

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।
खामेमि सव्वजीवे खमामऽह सव्वजीवाणं।। महापच्च–७/१४०/१५८०

खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ।। आउरपच्चक्खाण (१)–६/८/१४१८

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।। नियमसार–१०५

यह गाथा मूलाचार तथा वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे प्राप्त होती है। उनका मूलपाठ निम्न प्रकार है–

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।। मूलाचार–२/६८/(१०४)

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।
संसारपरिभीयस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।
वीरभद्र/आउरपच्चक्रवाण–१६/६९/२८८१

आलोयणमालुंछण वियडीकरण च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहिय आलोयणलक्खणं समए।। नियमसार–१०८

इस गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए–

आलोचणमालुंचन विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।
आलोचिदम्हि आराधणा अणालोचदे भज्जा।। मूलाचार–७/१२४

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जिणदि खु चत्तारि वि कसाए।। नियमसार–११५

उक्त गाथा भगवती आराधना, आराहणापडाया, मरणविभक्ति एव आराहणापडाया–२ मे उपलब्ध होती है। उनका मूलपाठ इस प्रकार है–

कोहं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए।।

भगवती आराधना–२६२ पृ २६२

कोहं खमाए माणं मद्दवया अज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जिणइ हु चत्तारि वि कसाए।। आराहणापडाया–१/१७

कोह खमाइ माणं मद्दवया अज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोभं निज्जिण चत्तारि वि कसाए।। मरणविभक्ति–५/१८९/९३८

कोह खमाइ माणं च मद्दवेणऽज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं संलिहइ लहुं कसाए सो।। आराहणापडाया–२/१६०/१०९२

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणं।। नियमसार–१२५

मूलाचार मे इसका पूर्वार्द्ध यथावत् पाया जाता है। उत्तरार्ध का पाठ पृथक् है। उसका मूलपाठ निम्न प्रकार है–

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो समाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं।। मूलाचार–७/२३

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार–१२६

यह गाथा मूलाचार, आवश्यक निर्युक्ति एव तित्थोगाली प्रकीर्णक मे मिलती है। यथा–

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायिय ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार–७/२५

जो समो सव्वभूएसु मसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासिअ।। आवश्यक निर्युक्ति गाथा–७९७

जो समो सव्वभूतेसु तसेसु थावरेसु य।
धम्मो दसविहो इति केवलिभासित।। तित्थोगाली–२०/१२०८/४७४९

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार–१२७

यह गाथा मूलाचार और आवश्यक निर्युक्ति मे प्राप्त होती है। उसका मूलपाठ इस प्रकार है–

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणं।। मूलाचार–७/२४

जस्स सामाणिओ अप्पा सजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासिअं।।

आवश्यक निर्युक्ति, गाथा–७९६ पृ ४३५

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणं।। नियमसार–१२८

यह गाथा मूलाचार मे पायी जाती है। यथा–

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेति दु।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार–७/२६

जो दु अट्ट च रूद्दं च झाण वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइयं ठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार–१२९

जो दु अट्टं च रुद्द च झाणं वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार–७/३१

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार–१३३

यह गाथा मूलाचार मे मिलती है। उसका मूलपाठ निम्न प्रकार है–

जो दु धम्म च सुक्कं च झाणे झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार–७/३२

ण वसो अवसो अवसस्स कम्मभावासयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।। नियमसार–१४२

यह गाथा मूलाचार मे यथावत् रूप मे पायी जाती है। यथा–

ण वसो अवसो अवसस्स कम्मभावासयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाय त्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती।। मूलाचार–७/१४

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि नियमसार की प्रवचनसार मे दो, समयसार मे दो, पचास्तिकाय मे दो, भावपाहुड मे तीन, भगवती आराधना मे तीन, मूलाचार मे बाईस, गोम्मटसार जीवकाण्ड मे दो, आवश्यक निर्युक्ति मे दो, महापच्चक्खाण मे छह, आउरपच्चक्खाण (१) मे दो, आउरपच्चक्खाण (२) मे एक, वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे आठ, चदावेज्झयं मे दो, तित्थोगाली मे एक, आराहणापयरण मे एक, आराहणपडाया (१) मे दो, आराहणापडाया (२) मे एक तथा मरणविभक्ति मे तीन गाथाएँ प्राप्त होती है। नियमसार की गाथा स० ९९ से १०५ तक की सात गाथाएँ प्रत्याख्यान से सम्बद्ध है। ये सातो गाथाएँ अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। इसी प्रकार नियमसार की गाथा सख्या १२६ से १२९ तक की पॉच गाथाएँ मूलाचार मे एक साथ मिलती है।

अहिंसा शोध संस्थान
वैशाली (नालन्दा)

सोनगढ़ साहित्य : समयसार का अर्थ विपर्यय

पं० नाथूलाल शास्त्री

समयसार गाथा ३२० या ३४१ (दिट्ठी सयपिणाण) की आचार्य जयसेन टीका तात्पर्य वृति मे "भव्यत्वलक्षण पारिणामिकस्य तु यथा सम्भव च सम्यक्त्वादि जीवगुणघातक देशघातिसर्वघातिसज्ञ मोहादिकर्म सामान्य पर्यायर्थिकनयेन प्रच्छादक भवति इति विज्ञेय। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदाय जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्म द्रव्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण पर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक भावत्रय भण्यते। अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्माभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञा लभते।"

इस उद्धरण को श्री कानजीस्वामी ने "ध्येयपूर्वकज्ञेय" एव "अध्यात्मरत्नत्रय" पुस्तको के प्रवचनों मे चतुर्थ गुणस्थान का विषय सिद्ध किया है, परन्तु आचार्य जयसेन ने इसी विषय को गाथा ४३६ (ववहारिओ पुन णओ) की टीका मे पुन पारिणामिक के तीन भेदो मे अभव्यत्व को मुक्ति का कारण नही बताने के पश्चात्–

"यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वय तस्य द्वयस्य तु यदाय जीवो दर्शनचारित्रमोहनी योपशमक्षयोपशम क्षयलाभेन वीतराग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्व। तच्च शुद्धत्व औपशामिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य सम्बन्धि मुख्यवृत्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति।"

यहॉ प्रथम उल्लेख को स्पष्ट करते हुए जीवत्व और भव्यत्व की व्यक्ति रूप से शुद्धता का उल्लेख है। शक्ति मात्र से तो पारिणामिक पहले से शुद्ध है जो ध्येय रूप मे है, क्योकि यहॉ पचमभाव पारिणामिक भाव से मुक्ति होती है। यह मोक्षाधिकार के बाद बताया गया है। उसमें दोनो उद्धरण भव्यत्व को लेकर हैं और सापेक्ष है। भव्यत्व की साक्षात् व्यक्ति (प्रकटपना) ७वे गुणस्थान से १४वे गुणस्थान तक होती

है। मध्य मे औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक मे से ७वे गुणस्थान मे सामान्य रूप से व आगे क्षायोपशामिक और उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि मे उपशम एव क्षायिक भाव सिद्ध होते है। औपशामिक आदि तीन भाव सम्यक्त्व के भेद यहाँ नही माने जाते। यदि उपर्युक्त उद्धरणो मे से पहला उद्धरण ४ गुणस्थान का ही होता तो देशघाति, सर्वघाति और मोह आदि कर्म सामान्य सम्यक्दर्शन ज्ञानानुचरण रूपेण तथा सम्यक्त्वादि शब्दो का अधिक प्रयोग नही किया जा सकता। अनुचरण मे "श्री मद् रायचन्द्र के सर्वगुणाशा ते समकित" समस्त गुण एकदेश रूप मे सामान्यतया सम्यक्त्व के साथ समीचीन हो जाते है। इसमे चारित्र भी आ गया। परन्तु इसे अनतानुबन्धी के अभाव (सम्यक्त्वाचरण) के साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान के अभाव के बिना चारित्रसज्ञा प्राप्त नही होती। (गोमट्टसार, जीवकाण्ड), वीतराग शब्द जो दूसरे शब्द मे रेखाकित किया गया है वह आचार्य जयसेन ने वीतराग सम्यक्त्व के साथ चारित्र की वीतराग सज्ञा मानकर ७वे गुणस्थान से सिद्ध किया है। उनके मध्य मे वहाँ वीतराग सम्यक्त्व ५वे गुणस्थान से ऊपर टीका मे सर्वत्र है–(गाथा २१२, २१३ परमाणुमित्तय पि हु)

पहले मिथ्यात्व गुण स्थान से सम्यक्त्व के साथ ७वॉ गुण स्थान होता है–इस दृष्टि से भी हमारा प्रथम उद्धरण के सबध मे कथन उचित है। क्योकि भव्यत्व की व्यक्तता केवल चतुर्थ गुणस्थान मे बताना उचित नही है। उसकी व्यक्ति (प्रकटपना) चौदहवे गुणस्थान तक होती है।

चौथे गुणस्थान को महत्व देने के साथ ही प्रवचनो मे श्रावक मुनिव्रतो की आलोचना भी की गई है। यहाँ अप्रमत्व (सॉतवा गुणस्थान) मुनिदीक्षा के बाद ही भव्यत्व की साक्षात् रूप से अभिव्यक्ति होती है–यह आचार्य का अभिप्राय है।

दूसरे उद्धरण से प्रथम उद्धरण का समर्थन होता है। इस सन्दर्भ मे करणानुयोग ग्रथ गोम्मट्सार, कर्मकाड–गाथा स० ३३५–३३६ एव ५५७ दृष्टव्य है जिसमे सातवे गुणस्थान से ही प्रथम उद्धरण भी सम्बद्ध है–यह स्पष्ट हो जायेगा। प्रथम गुणस्थान से सीधा सातवे गुणस्थान मे जो जाता है उसका यह विवरण है। इस दृष्टि से अभेद रत्नत्रय और शुद्धोपयोग तथा महाव्रती (मुनि) का सम्बन्ध सहज ही समझ मे आ जाता है। ७वे गुणस्थान मे अनतानुबधी को अप्रत्याख्यान आदि बारह कषाय रूप मे परिणित (विसयोजन) कर बाद मे दर्शनमोह की तीनो प्रकृतियो का क्षय करते है। फिर आठवे गुणस्थान मे उपशम या क्षपक श्रेणी माढते है। इस तरह

प्रथम, चतुर्थ, पचम व षष्ठ गुणस्थानो की प्रकृतियो का अभाव हो जाता है। चौथे गुणस्थान का सम्बन्ध ही नही रहता। प्रथम उद्धरण मे "सम्यक्त्व ज्ञानानुचरण पर्यायरूपेण परिणमति" यह पॅक्ति सातवे गुणस्थान की अभेद रत्नत्रय सूचक है।

मेरे उक्त कथन को सद्भाव से पढ़ा जाय। इसका खडन कर स्वामी जी के प्रवचनो का महत्व बनाये रखने हेतु जो भी प्रयन्त होगा उस पर हमारे पुराने वरिष्ठ विद्वानो को ध्यान देना चाहिए, क्योकि स्वामी जी ने अपने प्रवचन मे अपने कथन की पुष्टि के लिए श्रोता रूप मे उपस्थित समाज के शीर्षस्थ विद्वानो का नामोल्लेख किया है।

नोट – निर्णय हेतु समयसार एव गोम्मट्सार कर्मकाड अवश्य देखे।

शीश महल, इन्दौर

हम इकट्ठा करने मे रहे और सब कुछ खो दिया। यह एक ऐसा सत्य है जिसे लाखो लाख प्रयत्नो के बाद भी भुलाया नही जा सकता। हम जैसे जैसे जितना परिग्रह बढ़ाते रहे वैसे वैसे उतना 'जैन' हमसे दूर खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधनभूत श्रावकोचित आचार–विचार मे भी शून्य जैसे हो गये।

लोगो ने बड़ी बड़ी खोजे की, उन्होने सारा ध्यान उन पर शोध–प्रबन्धो के लिखने मे केन्द्रित किया, उन्हे प्रकाशित कराया और उन पर वे विविध लौकिक पुरस्कार पाते रहे और वे भी अहिसा, दान आदि के विविध आयामो से विविध रूपो मे परिग्रह–सचयन और मान–पोषण आदि मे लीन रहे जिससे वीतरागता का प्रतीक 'अपरिग्रहत्व–जैनत्व' लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि मे 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय 'जैनधर्म' के सरक्षण का अन्य उपाय नही।

मूल जैन–संस्कृति 'अपरिग्रह' से

चिन्तनीय

पूजा और मंत्र

न्यायमूर्ति एम.एल. जैन

हउँ कि पि ण जाणमि मुक्खु मणे।
णिय बुद्धि पयासमि तो वि जणे।। (स्वयम्भू, पउम चरिउ)

(मै कुछ भी नही जानता, मन मे मूर्ख हू, तो भी लोगो के सम्मुख अपनी बुद्धि को प्रकाशित करता हू)

दिगम्बर जैन परिषद, दिल्ली द्वारा सचालित सामूहिक पूजन के आयोजनो ने दिल्ली के दिगम्बर जैन समाज मे कुछ हलचल पैदा की है। मूर्ति पूजन के विषय मे पहले भी सवाल उठाए गए है, जवाब भी दिए गए है, फिर भी मेरे मन मे कुछ सवाल जवाब उठ रहे है।

पूजा का साधारण अर्थ सत्कार है और मत्र का अर्थ है ध्यान–चितन। यह आदर–सत्कार का साधन भी है। मूर्ति पूजा का इतिहास सदियो पुराना है। परन्तु कबीर कहते है –

'पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
तातें आ चाकी भली पीस खाय संसार।।'

ठीक यही बात जैन धर्म भी कहता है कि द्रव्य पूजा भाव पूजा के बिना व्यर्थ है। भाव पूजा है तो पर्वत पूजन से भी आत्म शुद्धि मिल सकती है। प० पद्मचद शास्त्री का कहना है कि जिन शासन मे मूर्ति की पूजा का विधान नही है, अपितु मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की पूजा का विधान है। प्रकारातर से यह जीव अर्हत् की पूजा के बहाने अपने गुणो का ही स्मरण करता है (दो शब्द, श्री जिनेन्द्र पूजन, अहिंसा स्थल, नई दिल्ली)।

मेरे ख्याल से पूजन भक्ति–योग का रूप है और सम्यक् दर्शन और भक्ति योग मे अधिक अन्तर नही है, क्योकि श्रद्धा दोनो का ही मूल आधार है। कुछ हद तक

यह भी कहा जा सकता है कि सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही भक्ति योग, ज्ञानयोग व कर्मयोग फलित होते है। जैनेतर भक्ति मार्ग अराध्य को प्राप्त करने या उसमे विलीन होने के लिए अपनाया जाता है या फिर केवल सासारिक याचनाए ही उसमे होती है। जैन भक्ति मार्ग का असली ध्येय मुक्ति है। यह आत्मा को परमात्मा बनाने की प्रक्रिया है। जैनेतर दर्शन मे कुछ मानते है कि एक परमात्मा मे अन्य आत्माए विलीन होती है। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त परमात्माओ मे अनन्त परमात्माए समा जाती है, किन्तु साथ ही यह भी मान्यता है कि भक्ति से पुण्य कर्म का आस्रव व बध होता है, इसलिए सासारिक सम्पदा व सुख भी उनके उदय से प्राप्त होते है। फिर भी जहा भक्ति है वहा राग है जो कर्म बध का, चाहे पुण्य कर्म का ही हो, कारण है। तथापि जैन दर्शन भक्ति और पूजन आदि का प्रतिपादन करता है और इन्हे सम्यक् दर्शन के साथ सम्यक् चरित्र का भी अग मानता है। मूर्ति वैसे तो केवल पत्थर या धातु मात्र है, परन्तु उसमे श्रद्धापूर्वक नाम–स्थापना निक्षेप करने पर वह पूज्य हो जाती है। भाव व श्रद्धा के कारण मात्र पत्थर व धातु, मात्र धातु नही रह जाते और वह वही हो जाता है जो हमने मान लिया।

अरहत भगवान चाहे वे वर्तमान है या हो चुके है या होगे वे तथा सिद्ध भगवान न कुछ ले सकते है और न प्रत्यक्ष रूप से कुछ दे ही सकते है। वे तो मोक्ष मार्ग का उपदेश दे चुके है, रास्ता दिखा चुके है। यही बात शास्त्र और गुरु पर भी लागू होती है, फिर इनसे रागात्मकता स्थापित करना और कर्मबध करना कहॉ की अक्लमदी है। इसका समाधान समन्तभद्र इस तरह करते है–

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयिता जनस्य सावद्यलेशो बहु पुण्यराशौ।
दोषाय नाऽलं, कणिका विषस्य न दोषाय शीतशिवाम्बुराशौ।।

(हे जिन! आपकी पूजा करने वाले जन के लेशमात्र सावद्य तो होता ही है, परन्तु उससे कही अधिक पुण्य राशि का सचय होता है। इसलिए उसमे दोष उसी प्रकार नहीं है जैसे शीतल शिवकर जलराशि मे विष की एक कणिका कोई खराबी पैदा नही कर सकती)

पडित प्रवर टोडरमल जी ने इसका समाधान बड़े ही प्रभावी ढग से यो किया है–जब राग का उदय हो तो यदि उसे शुभ प्रवृत्ति मे न लगाया जाय तो वह अशुभ प्रवृत्ति और पाप कर्म का आस्राव करेगा। इसलिए रागोदय का उपयोग देव, शास्त्र, गुरु की सेवा–पूजन मे किया जाना ही श्रेयस्कर है। इसलिए हमारी पूजा के शब्दो मे सारे जैन सिद्धात और मिथिक ही गाए जाते हे।

पूजा मूलत एक व्यक्तिगत प्रयास है चाहे वह सामूहिक रूप से ही क्यो न हो। यह प्रक्रिया ऐसे लोगो के लिए या कहिए श्रावको के लिए प्रभुत्व प्राप्त करने की सरल साधना है जिसके द्वारा भी आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार व तादात्म्य स्थापित कर सके, क्योकि लौकिक या भौतिक लब्धिया जीवन का चरम ध्येय नही है। कवि इकबाल के शब्दो मे **'सितारों से आगे जहॉ और भी हैं, इसी रोजोशब में उलझ कर न रह जा, तेरे जमीन ओ मकां और भी हैं'** उस अतिम मुकाम पर जाने के लिए क्या करे? उसके लिए पूजा का सोपान भी है।

यह तो हुई पूजन की दार्शनिक पृष्ठभूमि। अब जरा पूजा की विधि आदि पर एक नजर डाली जाए। पूजा निर्विघ्न रहे इसके लिए प० आशाधर की सलाह है कि–

यथास्वं दानमानाद्यै: सुखीकृत्य विधर्मिण:।
स्वधर्मण: स्वसात्कृत्य सिद्धयर्थी यजतां जिनम्।।

(सिद्धि के इच्छुक को अन्य धर्मावलम्बियो को यथा योग्य दान सम्मान आदि के द्वारा अनुकूल बनाकर साधर्मियो को साथ मे लेकर जिन की पूजा करनी चाहिए।)

पूजा के आरम्भ करने से पहले स्वस्ति व मगल वाचन किया जाता है। समस्त तीर्थकरो और साधुओ से प्रार्थना की जाती है कि जैनेन्द्र–यज्ञ–विशेष की सारी प्रक्रिया के समय सारे विघ्न समूह नष्ट हो। स्वस्ति मगल के बाद विधिपूर्वक पूजा प्रारम्भ की जाय। आजकल नवीन कवियो ने नई नई पूजाए रचकर पूजा की विधि मे भी यत् किचित् फेर बदल कर दिए है और नए–नए सुझाव देने लगे है। पूजा के कई सग्रह भी मिलने लगे है।

साधारणतया चाहे वे मूर्ति रूप मे समक्ष हो या नही, सिद्धो, अर्हतो, तीर्थकरो, गुरुओ, जिनवाणी, जिनबिबो या चैत्यो, सोलहकारण भावनाओ, धर्म के लक्षणो की या अन्य आराध्य की पूजा का प्रारम्भ करते समय एक पात्र का प्रयोग करते है। जिसमे **स्वस्तिक ॐ** आदि लिख कर आराध्य से कहते है –

ॐ ह्री अत्र अवतर अवतर **संवौषट्** (ॐ ह्री यहॉ आइए, आइए, सवौषट्)

ॐ ह्री अत्र तिष्ठ तिष्ट **ठ: ठ: ठ:** (ॐ ह्री यहॉ बैठिए, बैठिए, ठ ठ ठ)

ॐ ह्री अत्र मम सन्निहितो भव भव **वषट्** (ॐ ह्री मेरे समीपस्थ होइए होइए वषट्)

साथ मे उस पात्र मे चावल सुमन डालते जाते है। इस पात्र को **आसिका** नाम दिया है जिसका अर्थ है छोटा आसन। इसके पश्चात् ॐ ह्री श्री महावीर जिनेन्द्राय आदि यथोचित शब्दावली के बाद 'निर्वपामि इति स्वाहा' कह कर विभिन्न द्रव्य चढ़ाते है।

अब हमारे अराध्य न कही आते है, न जाते है, विशेषकर सिद्ध तो कदापि नही, फिर भी हम कल्पना करते है इस तरह कि मानो वे कोई ऐसे जीव या देव है जो बुलाए जा सकते है, बिठाए जा सकते है और मधुर सगीत के साथ या उसके बिना भी किया गया स्वागत सत्कार स्वीकार कर सकते है। यह प्रक्रिया, जान पड़ता है वैदिक–तात्रिक यज्ञो व पूजा का अहिसाकरण है। यज्ञ वेदी के स्थान पर हम एक थाली या अन्य पात्र का उपयोग करते है जिसमे द्रव्य क्षेपण करते है। यह प्रक्रिया मन्त्रोच्चार के साथ होती है और हमारे जी को अच्छी ही नही लगती अपितु एक प्रकार की विनय, पवित्रता, शक्ति, रहस्यमयता और इन्द्रियातीत भाव का सचार भी करती है।

उपर्युक्त **आह्वानन, स्थापना, सन्निधिकरण** व **निर्वपण** आदि के साथ पूजा की प्रक्रिया में हम प्रयोग करते है कुछ ये शब्द– (१) **संवौषट्** (२) **ठः ठः ठः** (३) **वषट्** (४) **स्वस्ति** (५) **ॐ** (६) **ह्रीं** (७) **स्वाहा** (८) **आरती** आदि।

विद्वान बतलाते है कि ॐ ह्री श्री आदि शब्द **बीजाक्षर** है जो शाखा, शोभा, कल्याण या विजय के साधन है। परन्तु इससे आगे भी जिज्ञासा रहती है कि यह बीज क्या है और क्या है इनका अर्थ व प्रयोजन?

अमरकोष के अव्यय वर्ग, श्लोक ८ मे कुछ का अर्थ यो दिया गया है–

स्वाहा देव हविर्दाने श्रौषट्, वौषट्, स्वधा अर्थात् स्वाहा, श्रौषट्, वौषट् वषट् और स्वधा ये पाच नाम हवि देने के समय प्रयुक्त होते है।

ऋग्वेद के मडल २ सूक्त ३६ की ऋचा (मत्र) १ इन्द्र के प्रति इस प्रकार है–

तुभ्य हन्वानो वरिष्ट गा, अपो अधुक्षन्सीमविभिरद्रिभिर्नरः।
पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुत वषट् कृत, होत्रादा सोम प्रथमो य ई शिषे।।

ग्रिफिथ के अनुसार इस मत्र का अर्थ है–

Water and milk hath he indeed sent forth to thee. The men have drained him with the filters and the stones Drink, Indra, from the Hotar's bowl, first right is thine soma hallowed and poured with Vasat and Swaha

हे इन्द्र! हवन करने वाले के पात्र से इस सोम को पिओ जिसे तुम्हारे लिए दूध और पानी के साथ पत्थर से पीस छानकर हवन करने वाले ने तैयार किया है। यह वषट् कृत है, स्वाहा के साथ इस पर तुम्हारा ही पहला हक है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी ऋचा मे स्वाहा का अर्थ 'उत्तम क्रिया के साथ' और वषट् कृत का अनुवाद "क्रिया से सिद्ध किए हुए है" किया है। अन्यत्र ७/१४/३ मे "सत्य क्रिया" ७/१००/७ मे 'श्रद्धा' तथा ८/२/८२ मे 'वषट् शब्द द्वारा सम्मानित' यह अर्थ किया है। दरअसल कुछ ध्वनियो के कोई अर्थ नही होते, वे केवल भाव के सकेत वाचक है। जैसे हे, हा, हाय हाय, अरे, हो, हो उफ्। इसी प्रकार **वषट् स्वाहा संवोषट्** का भी कोई अर्थ नही है। केवल आराध्य के स्वागत सत्कार का एक तरीका है। वेद मे तो स्वाहा व वषट् के प्रयोग के बिना आहुति निरर्थक ही नही, किन्तु हानिकारक भी मानी जाती है। **ठः ठः ठः** केवल बैठन के स्थान की ओर इगित करते है। ठ उस पवित्र स्थल को कहते है जहाँ कोई आकर बैठ सकता है।

यह आह्वानन, स्वागत–सत्कार श्वेताम्बर पूजा पुस्तको मे केवल दादा गुरु की पूजा मे पाया जाता है। तीर्थकरो व सिद्धो की पूजा मे देखने मे नही आया। पूजा के विषय मे अन्यथा कोई मौलिक भेद नही है।

अब जब हमने अपनी कल्पना या भावना से पूज्य को बुला ही लिया, पास मे बिठा भी लिया तो फिर स्थान को धूप चदन से सुगन्धित व दीपक से प्रकाशित करने के साथ–साथ पानी, फल, फूल, अन्न (चावल) पकवान भी समर्पित करने ही होगे। एक–एक वस्तु समर्पित करके फिर आठो ही पदार्थो को मिलाकर अर्घ्य भी पेश करते है। भगवद्गीता मे कृष्ण कहते है–**पत्रं पुष्प फलं तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः।।** (जो भक्ति पूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल चढ़ाता है उसको प्रयतात्मा मै ग्रहण करता हूँ।)

कठिनाई आई कि बाते तो बड़ी लुभावनी कर ली कि हे आराध्य! मै आपके लिए तरह–तरह के पकवान, दीपक आदि लेकर आया हूँ, परन्तु ऐसा हर दिन हर शख्स नही कर सकता, इसलिए सफेद चावल मे अक्षत, रगे चावल मे फूल, बादाम आदि मे फल, नारियल की गिरी मे दीप व नैवेद्य की स्थापना कल्पना करके समर्पित करते है। कहते है यह द्रव्य कल्पना सचित्त पदार्थ का प्रयोग वर्जित करने के लिए की जाती हे। यदि ऐसा ही है तो फिर पूजा की भाषा मे परिवर्तन करना समुचित होता। इसलिए कई भक्त यथालिखित सचित्त पदार्थो का भी उपयोग करते है। बीस पथी अभिषेक मे तो–

संस्नापितस्य घृतदुग्धदधीक्षु रसैः, सर्वाभिरोषधिभिरर्हत उज्वलाभिः।
उद्वर्तितस्य विदधाम्यभिषेकमेलाकालेयकुकुमरसोत्कटवारिपूरैः।।

(घी, दूध, दही, इक्षुरस से स्नान कराने के पश्चात् उबटन लगाकर अब मैं एला, कालेय और कुकुम के रस से मिश्रित उज्ज्वल सर्वौषधि रूप वारि पूर से अभिषेक करता हू) सचित्त अचित्त दोनो ही पदार्थो से पूजा करना आगम सम्मत है। ध्यान केवल यह रखना होता है कि हिसा से दूर रहा जाए।

यह सब समर्पण–निर्वपण हम कर रहे है जिसको बुलाया उसके लिए नही, केवल स्वहित के लिए। आशाधर धर्मामृत (सागार) मे लिखते है–

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्तार्हतः
सद्गन्धस्तु तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः।
यष्टुः स्रग्दिविस्रजे चरुरुमा स्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घ्याय सः।।

(अर्हत के चरणों में विधिपूर्वक अर्पित जल की धारा पापो की शान्ति के लिए, उत्तम चन्दन पूजक के शरीर की सुगन्ध के लिए, अक्षत (अखण्ड तन्दुल) वैभव के नष्ट न होने के लिए, फूलो की माला स्वर्ग मे होने वाली मन्दार माला की प्राप्ति के लिए, धूप पूजन के परम सौभाग्य के लिए, फल इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए और अर्घ्य पूजा विशेष के लिए है) इस पर प० कैलाशचन्द्र का निष्कर्ष है कि मध्य काल मे पूजा मे लौकिक फल की भावना थी। उत्तर काल मे आध्यात्मिक रूप देकर पूजा का महत्व बढ़ाया गया है। उनका यह भी कहना है कि आशाधर के पहले के ग्रथो में अर्घ्य चढ़ाने का कथन भी नही है। अब आध्यात्मिक उपलब्धियो के सिलसिले मे जल जन्म–जरा–मृत्यु निवारण के लिए, चन्दन ससारताप विनाश के लिए, अक्षत अक्षय पद पाने के लिए, पुष्प कामबाण विध्वस के लिए, नैवेद्य क्षुधा रोग विनाश के लिए, दीप मोहाधकार विनाश के लिए, धूप अष्ट कर्म दहन के लिए, फल मोक्ष फल के लिए और अर्घ्य अनर्घ पद (मोक्ष पद) पाने के लिए अर्पित किया जाता है। किसी अतिथि के सादर स्वागत मे जो वस्तु समर्पित की जाए उसे **अर्घ्य** कहते है। **अनर्घ** पद का अर्थ है वह पद जिसका मूल्य नही आका जा सकता।

हमारे नवीन कवियो ने इस समर्पण–निर्वपण को यो बदल दिया है – वे चढ़ाते है जल ज्ञानावरणीय के क्षय के लिए, चदन दर्शनावरणीय–वेदनीय के क्षय के लिए, अक्षत मोहनीय के क्षय के लिए, पुष्प आयुकर्म के विनाश के लिए, नैवेद्य नाम कर्म के विनाश के लिए, दीप गोत्र कर्म के क्षय के लिए, धूप अतराय के नाश के लिए,

फल और अष्टकर्मों के क्षय के लिए इकट्ठा इन्ही अष्ट द्रव्यो का अर्ध्य। ये ही कुछ नवीन कवि चैत्यालयो की पूजन मे किसी प्रयोजन का जिकर किए बिना ही निर्वपण करते है। यह भी विचारणीय है।

श्वेताम्बर परम्परा मे अष्ट द्रव्य अलग–अलग न चढ़ाकर केवल अर्ध्य ही चढ़ाते हैं। दिगम्बर परम्परा मे भी समयाभाव से पूरी पूजा न करने पर अथवा की गई पूजाओ का उपसहार करने पर अर्ध्य चढ़ाते है जिसे पूर्णार्ध्य या महार्ध्य कहते है। यथा–**उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैःश्चरूसुदीपसूधूपफलार्घकैः। धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमह यजे।।** उनके द्वारा समर्पित अष्ट द्रव्यो मे वस्त्र भी चढ़ाया जाता है। हम शास्त्र पूजा मे नौ द्रव्यो मे वस्त्र द्रव्य चढ़ाते है। यथा–**नयनसुखकारी मृदुगुनधारी उज्ज्वल भारी मोलधरे। शुभ ग्रंथ सम्हारा वसन निहारा तुम तन धारा ज्ञान करे।।** दिगम्बर परम्परा मे वीतराग देव को वस्त्र चढ़ाने का विधान नही है।

अब जब आराध्य को बुला लिया, पास मे बैठा लिया, स्वागत सत्कार कर लिया, भोजन परोस लिया, स्वीकृत हुआ मान भी लिया, तो फिर पूज्य और पूजक दोनो विदा लेना ही चाहेगे–यह स्वाभाविक है। इसलिए शिष्टाचार के साथ अपनी कमी के लिए क्षमा मागकर यह कह कर विसर्जन किया जाता है–**आहूता ये पुरा देवाः लब्धभागा यथाक्रमम्। ते मयाभ्यार्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथा स्थितिम्।।** (जिन महाभाग देवो को मैने बुलाया, उनकी मैने भक्ति पूर्वक अर्चना की वे यथाक्रम से अपने अपने स्थान को जाए।) उनके चले जाने पर उनके द्वारा अब रिक्त हुए आसन याने आसिका को नमन कर उनको धोने के लिए डाल दिया जाता है।

कुछ लोग स्थापना तो करते है, किन्तु विसर्जन को आम्नाय के प्रतिकूल मानते है और उसके स्थान पर क्षमापाठ भर ही करते है। जाहिर है यह अधूरी प्रक्रिया है। क्षमा माग कर विदाई करना ही पूजा समाप्त करने की समुचित प्रक्रिया जान पड़ती है।

आत्मपूजोपनिषद् कहता है कि आत्मा का चिन्तन ही ध्यान है। कर्मो का त्याग ही आह्वानन है, स्थिर ज्ञान ही आसन है, आत्मा की ओर मन लगाए रखना ही अर्ध्य है, शून्य लय समाधि ही गध है, अन्त ज्ञान चक्षु ही अक्षत है, चिद् का प्रकाश ही पुष्प है, सूर्यात्मकता ही दीप है, पूर्ण चन्द्र का अमृत रस ही नैवेद्य है, सदा सन्तुष्ट रहना ही विसर्जन है। जैसे द्रव्य पूजा के लिए नैवेद्यादि चाहिए वैसे ही भाव पूजा आत्म पूजा के लिए उपर्युक्त आध्यात्मिक सामग्री चाहिए।

मदिरो मे पूजा के अत मे तथा सध्या समय **आरती** को बड़ा ही महत्व मिला हुआ है। आरती शब्द का मूल रूप है **आरात्रिक** याने सध्या के उपरात रात्रि के पहले या रात्रि मे दीप को ऊपर नीचे ठहर ठहर कर घुमाकर इस प्रकार नीराजना करना कि मूर्ति का पूरा रूप अधकार मे भी दिखाई दे सके। इसी प्रक्रिया का प्राकृत शब्द हुआ **'आरत्तिय'** और उससे बना हमारा शब्द आरती। इसको आर्तिहरण, दु खहरण भी बोलते है। इस तरह आरती शब्द सस्कृत व प्राकृत की देन है। जिस पात्र मे दीपक रहता है उसे भी आरात्रिक, आरती ही कहने लगे है।

अब जब पूजन के बाद देव–विसर्जन हो गया तो चढ़ाए गए द्रव्यो का क्या किया जाय? द्रव्यो मे से न देवो–आराध्यो ने कुछ खाया, न हम ही उसे प्रसाद मान कर खाते है–केवल गधोदक जल को तो हम अपने शरीर पर लगाकर थोड़ा काम मे लेते है, बाकी सब मन्दिर के माली/सेवक के लिए छोड़ देते है। इस द्रव्य को **निर्माल्य** कहते है।**'पाइअ सद्द महण्णव'** और **'अभिधान राजेन्द्र कोषों'** मे निर्माल्य (णिम्मल्ल) का अर्थ **"देवोच्छिष्ट द्रव्य"** ऐसा दिया हुआ है। हम इसे अपने उपयोग मे इसलिए नहीं लेते कि ऐसा करने पर अन्तराय कर्म का आस्रव होता है, ऐसा अकलक (त रा वा ६/२७/१) कहते है। विचारणीय यह है कि जिनेन्द्र देव को समर्पित पदार्थ के सेवन से जब कर्म का आस्रव–बध होता है तो फिर उसे माली/सेवक को देना या माली/सेवक को इसे लेने के लिए प्रेरित करना कहाँ तक उचित है? इसका एक अलग पहलू भी है, वह यह कि इतनी मूल्यवान सामग्री को यज्ञो की तरह आग मे जलाकर नष्ट किए जाने के बजाए किसी के काम आए तो इस परोपकार से पुण्यास्रव ही होगा।

ह्री श्री क्ली आदि ये बीजाक्षर तात्रिक प्रयोग है। इनका अर्थ वैसे कुछ नही – ये देव के सबोधन के रूप मे ही प्रयुक्त होते है। यहाँ तक कि कुछ मत्रो का रूप ही इस प्रकार होता है –

(१) **ॐ अर्ह मुखकमलवासिनी पापात्मक्षयकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्त्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः–क्षीरवरधवले अमृत संभवे वं वं हूं हूं स्वाहा।**

(२) **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं, ऐं अर्ह, तं म हं सं तं पं वं वं हं सं सं तं तं पं पं झं झं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं हां हां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय नमो अर्हते भगवते श्रीमते पवित्रतरजलेन जिनमभिषेचयामि स्वाहा।** मेरे विचार मे ये झाझ मजरी और मृदग की ध्वनियो के सकेत है, इनको पढ़कर कलशाभिषेक करते है। इन सब का क्या अर्थ है?

अब यदि इनके अर्थ के लिए किसी से पूछा जाए तो निराशा ही हाथ लगेगी।

ॐ का उच्चारण है 'ओम्'। इस ध्वनि का ऋग्वेद मे कोई जिकर नही है, परन्तु उपनिषद् इसके प्रभाव से भरे पड़े है। कुछ उपनिषद् यथा प्रणवोपनिषत्, अमृतनादोपनिषत्, एकाक्षरोपनिषत् और नादबिन्दूपनिषद् तो **ॐ** पर ही है, इसी को प्रणव भी कहते है। उपनिषदो के अनुसार **ॐ** एकाक्षर ब्रह्म है। वहाँ यह भी कहा है कि इनके तीन अक्षर है—अ, उ, म्। अक्षर अ ब्रह्म का, उ विष्णु का तथा म् महेश का स्वरूप है। ये तीनो अक्षर चाद, सूरज और अग्नि का भी रूप है। जब मोक्ष के पास ममुक्षु होता है तो कांसी के घटे का सा शब्द होता है। ओकार के इसी स्वरूप को समझना चाहिए। यह देवताओ, पितरो की तृप्ति हेतु यज्ञ तथा श्राद्ध आदि मे किया जाने वाला स्वाहा, स्वधा तथा वषट कार है। यह प्राणिमात्र के हृदयो मे ओतप्रोत है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार **ॐकार** ब्रह्म है, त्रिकाल वाला ससार भी है।

जैन धर्म मे भी **ओंकार** का बड़ा महत्व है। तीर्थकर की भाषा केवल ओकार मय होती है जिसे गणधर शास्त्र रूप मे गुम्फित करते है। जैन धर्म मे इसको पच परमेष्ठी का सार होना भी इस प्रकार बताते है—असरीर (सिद्ध) अर्हत, आइरिय, उवज्झाय, मुनि (साधु) इनके प्रथमाक्षर अ अ आ उ म् की स्वर सधि करने पर बनता है शब्द ओम्। यदि ऐसा है तो इसका ॐ नम कहना समुचित ठहरता है। मेरे विचार से यह वह बिना बजाया (अनहत) नाद है जो सब ध्वनिया शेष होने जाने पर भी सुनाई देता है।

तमाम मत्र सस्कृत भाषा मे है, फिर भी मत्रो मे प्रयुक्त बीजाक्षरो या कुछ शब्दो का कोई शाब्दिक अर्थ नही होता परन्तु हर ध्वनि का तात्पर्य जरूर है, कोई प्रभाव अवश्य है। क्योकि **अमंत्रमक्षर नास्ति नास्ति मूलमनोषधम्** याने जैसे कोई जड़ अनौषध नही होती वैसे कोई बीज अक्षर अमत्र नही होता। वैसे दरअसल किसी ध्वनि को वही अर्थ मिलता है जिससे नाम व भाव की स्थापना उसमे हमने या हमारे पूर्वजो ने की है। ध्वनि उत्पन्न करना हर जीव का सहज स्वभाव है और ये ध्वनिया अनन्त है। सर्वत्र जगत मे सम्प्रेषण की माध्यम है। किसी भी भाषा मे सारी ध्वनिया काम मे नही ली जाती। कुछ ध्वनिया ऐसी है जिनका सम्बन्ध कार्य से जुड़ा होता है, किसी सन्दर्भ मे उनका प्रयोग होता है। मत्र ऐसी ही ध्वनिया हैं जिनका क्रिया से अविनाभावी सम्बन्ध है। पूजा व ध्यान की जो अनिवार्य ध्वनिया है वे ही मत्र है। क्रिया के बिना वे ध्वनिया अर्थहीन लगती हैं। विधिपूर्वक पूजा करने का मतलब है

कुछ निश्चित ध्वनियों यथा बीजाक्षरो के प्रयोग के साथ पूजा की क्रिया करना। क्योंकि इन ध्वनियो के बिना क्रिया का कोई फल नही, अत. विसर्जन पाठ में कहते है। **मंत्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च। तत्सर्व क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर।।** मत्र और क्रिया का यह सम्बन्ध पुराना है और साधक इस सम्बन्ध की फलदायिनी शक्ति पर विश्वास करते आ रहे हैं। वह विश्वास ही इन ध्वनियो को सार्थकता व शक्ति प्रदान करते है। ये ध्वनिया एक प्रकार का सगीत व रहस्यात्मकता पैदा करती है और संगीत या काव्य की भांति बार बार बोली जाने पर ही ये ध्यान की ओर ले जाती है और साधक की तल्लीनता उसे इन्द्रियातीत करती है। ये मत्र ध्वनिया देवता या ध्येय का नाम भी हैं, ध्येय को आहूत करने के लिए भी है। साधक की शरीर शुद्धि न्यास के लिए, प्रेतात्माओ के भगाने के लिए भी प्रयुक्त होती है। मत्र अत वे ध्वनिया हैं जिनको धार्मिक सस्कारो ने व्यवस्थित सहित ही नही किया बल्कि उनके प्रयोग पर भी एक सीमा व पाबदी लगा दी है।

इस तरह मंत्र वाक् शक्ति का स्वरूप है। ससार की हर क्रिया वाक् से होती है। वाक् ही मति है, क्योकि बिना वाक् के कोई सोच विचार सम्भव नही है, अत चित्त ही मंत्र है। क्योकि बिना शब्द के कोई प्रत्यय नही है। इस वाक् शक्ति को ऋषियो ने स्वर, व्यंजन और अननुनासिक मे बाटा है। इस विशाल विश्व मे जो भूत (elements) हैं उनका मूल व सूक्ष्म रूप व ध्वनि करण ही मत्र है, यथा कं=वायु रं=अग्नि, लं=पृथ्वी, व=जल। ये मंत्र स्वर व्यजनों के संयोग से बनते है।

अकारादि हकारान्ता मंत्रा परमशक्तय:।
स्वमण्डलगता ध्येया लोकद्वय्य फलप्रदा।।

ऋषियो ने १६ स्वर और ३३ व्यजन पहचान किए है। इनके अलग अलग मण्डल है। इन मण्डलो पर फिर कभी चर्चा करूगा। फिलहाल इतना कहना पर्याप्त है कि स्वर–व्यजनो के सयोग से मत्र बनते है और यह सयोजन कठिन ही नही दुर्लभ भी है। मत्रो की शक्ति उच्चारण मे है। उससे बढ़कर है उपांशु में और उससे भी बढ़कर है तूष्णी मे। मन ही मन बार बार दुहराना – इस आवृत्ति से निरर्थक दिखाई देने वाले अक्षरो मे एक शक्ति का सचार होता है, एक ऊर्जा पैदा होती है। मत्र शास्त्र मे इसलिए स्वर–व्यजनो मे से प्रत्येक को अलग अलग शक्ति–लब्धि का देने वाला माना गया है।

मत्रोचार के साथ की गई पूजा की क्रिया ही पूजा का फल देती है। आत्म कल्याण के लिए की गई पूजा पर हित भी करे इसके लिए पूजा के अत मे **शाति**

पाठ किया जाता है जिसमे प्रार्थना की जाती है कि वृषभ आदि तीर्थकर पुर, देश, राष्ट्र, जगत मे सर्वत्र सब की सब तरह से शाति करे और राज करने वाले बलवान और धर्मवान हों और जैन धर्म चक्र का प्रभाव हो।

तीर्थकरो का जीवन-काल दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। १ दीक्षा के पहले तथा २ दीक्षा के बाद। पहले भाग मे वे शक्ति पूर्वक शासन व्यवस्थाओ में व सामान्य जनता के सर्वमुखी कल्याण मे लगे होते है और दीक्षा के बाद आत्म हित मे लगे रहते हुए भी अपने उपदेशो के द्वारा परहित साधन करते है। उनके प्रभाव से, उनकी मौजूदगी मात्र से ही ससार मे सुख-शाति व्याप्त हो जाती है। पूजा के अत मे इसी शाति की कामना की जाती है।

करोतु शाति भगवाञ्जिनेन्द्र ।

२१५, मंदाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा, नई दिल्ली-१९

भावेण होइ णग्गो बाहिर लिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण।।
णग्गत्तणां अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पण्णत्तं।
इयणाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर।।

-भावपाहुण ५४-५५

- भाव से नग्नपना होता है, केवल बाहरी नग्न वेष से क्या लाभ है? भावसहित द्रव्यलिग होने पर कर्म प्रकृति-समूह का नाश होता है, मात्र द्रव्यलिग से नही। भाव-रहित नग्नपना कार्यकारी नही ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्मा का चिंतन कर।

ज्ञानार्णव में ध्यान का स्वरूप

डॉ० सगीता सिंघल

ध्यान का लक्षण – जिसे मोह और राग–द्वेष नही है तथा मन–वचन–काय रूप योगो के प्रति उपेक्षा है उसे शुभाशुभ को जानने वाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती है।[१] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उत्तम सहनन वाले का एक विषय मे चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है, जो अनन्तमुहुर्तकाल तक होता है।[२] आ० समन्तभद्र कहते है कि इस ध्यान के लक्षण मे जो एकाग्र का ग्रहण है वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है। ज्ञान ही वस्तुत व्यग्र होता है, ध्यान नही। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।[३] आचार्य पूज्यपाद ने चित्त के विक्षेप का त्याग करने को ध्यान कहा है।[४] ज्ञानार्णव मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मुक्ति का कारण कहा गया है। अतएव जो मुक्ति की इच्छा करते है, वे इन सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से ही मोक्ष को प्रकटतया साधते है।[५] उत्कृष्ट है काय का बध अर्थात् सहनन जिसके ऐसे साधु का अन्तर्मुहुर्त पर्यन्त एकाग्र चिन्ता के रोधने को ध्यान कहते है।[६] जो एक चिन्ता का निरोध है – एक ज्ञेय मे ठहरा हुआ है वह तो ध्यान है और इससे भिन्न है सो भावना है उसे अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते है।[७] अनगार धर्मामृत के अनुसार इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते है।[८] पञ्चाध्यायी मे कहा है कि किसी एक विषय मे निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है और वह वास्तव मे क्रम रूप ही है, अक्रम नही।[९] योगदर्शन के अनुसार ध्येय वस्तु मे चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ध्यान है।[१०]

ध्येय के भेद – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार का ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनो रूप मे ध्यान के योग्य माना गया है। इस प्रकार नाम आदि भेद से ध्येय चार प्रकार का कहा गया है अथवा द्रव्य और भाव के भेद से वह दो प्रकार का ही अवस्थित है।[११]

नाम व स्थापना रूप ध्येय – वाच्य का जो वाचक शब्द है वह नाम रूप ध्येय है और प्रतिमा स्थापना मानी गयी है।[१२]

द्रव्य रूप ध्येय – निर्मल बुद्धि पुरुष ध्यान करने योग्य वस्तु को ध्येय कहते है। अवस्तु ध्यान करने योग्य नही है। वह ध्येय वस्तु चेतन और अचेतन दो प्रकार की है। चेतन तो जीव है और अचेतन धर्मादिक पॉच द्रव्य है। ये सब द्रव्य (वस्तु) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश लक्षण से युक्त है। सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य नही है। अर्थात् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सहित हैं तथा मूर्तिक अमूर्तिक भी है। पुद्गल मूर्तिक है, जीवादिक अमूर्तिक है। चैतन्य ध्येय एक तो शुद्ध ध्यान से नष्ट हुआ कर्म रूप आवरण जिसका ऐसा मुक्ति के वर सर्वज्ञ देव सकल अर्थात् देहसहित समस्त कल्याण के पूरक अरहंत भगवान् है।[१३] द्रव्य रूप ध्येय गुणपर्यायवान् होता है।[१४] यह द्रव्य नाम की वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप है तथा अनादिनिधन है वह सब यथावस्थित रूप मे ध्येय है।[१५]

भावरूप ध्येय – ध्येय के सदृश्य ध्यान की पर्याय भाव ध्येय रूप से परिगृहीत है।[१६]

अन्य पदार्थ ध्येय

चेतन और अचेतन पदार्थो का यथावस्थित रूप ध्येय – जो जीवादिक षट्द्रव्य चेतन–अचेतन लक्षण से लक्षित है, अविरोध रूप से उन यथार्थस्वरूप ही बुद्धिमान जनो द्वारा धर्मध्यान मे ध्येय होता है।[१७]

सात तत्व व नौ पदार्थ ध्येय – मै अर्थात् जीव और मेरे अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा कर्मो का क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्व या पुण्य पाप मिला देने से नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य है।[१८]

अनीहित वृत्ति से समस्त वस्तुएँ ध्येय – यह लोक ध्यान के आलम्बनो से भरा हुआ है। ध्यान मे मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस–जिस वस्तु को देखता है, वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है।[१९]

पञ्चपरमेष्ठी रूप ध्येय

सिद्ध का स्वरूप ध्येय – शुद्ध ध्यान से नष्ट हुआ है कर्मरूप आवरण जिनका ऐसे मुक्ति के वर सर्वज्ञ देव सकल अर्थात् शरीर सहित तो अर्हत भगवान् है अर्थात् निष्कल सिद्ध भगवान् है।[२०]

अर्हत का स्वरूप ध्येय – घातिया कर्मो के नष्ट हो जाने से जो स्नातक अवस्था को प्राप्त हुए है और जो तेजोमय परम औदारिक शरीर को धारण किए हुए है ऐसे केवलज्ञानी अर्हत जिन ध्यान करने योग्य है।[२१]

पञ्चपरमेष्ठी का रूप ध्येय – आत्मा के ध्यान मे भी वस्तुत पञ्चपरमेष्ठी ध्यान किए जाने योग्य है।[२२]

आचार्य उपाध्याय साधु ध्येय – जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से सम्पन्न है तथा जिन्हें सात महाऋद्धियॉ या लब्धियॉ प्राप्त हुई है और जो यथोक्त लक्षण के धारक है ऐसे आचार्य उपाध्याय और साधु ध्यान के योग्य है।[२३]

निज शुद्धात्मा ध्येय – मोमरहित मूषक के अभ्यन्तर आकाश के आकार रत्नत्रयादि गुणो युक्त, अनश्वर और जीवधनदेश रूप निजात्मा का ध्यान करना चाहिए।[२४] एक–एक द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु (आत्मा की निर्विकल्प अवस्था) मे चित्तवृत्ति को केन्द्रिय करना ध्यान है।[२५] मन वचन के अगोचर शुद्धात्म तत्त्व ध्येय है।[२६] तीन लोक के नाथ अमूर्तिक परमेश्वर परमात्मा अविनाशी का ही साक्षात् ध्यान प्रारम्भ करे। शक्ति और व्यक्ति की विवक्षा से तीन काल के गोचर साक्षात् सामान्य (द्रव्यार्थिक) नये से एक परमात्मा का ध्यान व अभ्यास करे।[२७]

शुद्ध पारिमाणिक भाव ध्येय – जो शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध परम पारिमाणिक भाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीव मे पहले ही विद्यमान है, अब प्रगट होगी ऐसा नही है। रागदि विकल्पो से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान भावना पर्याय मे वही मोक्ष (त्रिकालादिरुपाधि शुद्धात्म स्वरूप) ध्येय होता है।[२८]

रत्नत्रय व वैराग्य की भावनायें ध्येय – भले प्रकार प्रयुक्त किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनो की एकता से मोक्षरूपी लक्ष्मी उसे रत्नत्रययुक्त आत्मा को स्वय दृढ़ालिगन देती है। इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही जीवो की नाना प्रकार की कर्मवान् बेड़ियॉ टूटती है।[२९] जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओ द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती है।[३०]

ध्येय के गुण–दोष – चारो ध्यानो मे से पहले के दो अर्थात् आर्त्त और रौद्र ध्यान छोड़ने के योग्य है तथा आगे के दो अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान मुनियो के ग्रहण करने योग्य है।[३१] जीवो के अप्रशस्त ध्यान आर्त्त और रौद्र भेद से दो प्रकार का है तथा प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्ल भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उक्त ध्यानो मे आर्त्त और रौद्र नाम वाले दो जो अप्रशस्त ध्यान है वे तो अत्यन्त दु ख देने वाले है और दूसरे धर्म, शुक्ल नाम के दो प्रशस्त ध्यान है वे कर्मो को निर्मूल करने मे समर्थ है।[३२] योगी मुनियो को चाहिए कि असमीचीन ध्यानो को कौतुक से स्वप्न मे भी न विचारे, क्योकि असमीचीन ध्यान सन्मार्ग की हानि के लिए बीज–स्वरूप है। खोटे ध्यान के कारण सन्मार्ग से विचलित हुए चित्त को फिर सैकड़ो वर्षो मे भी कोई सन्मार्ग मे लाने को समर्थ नही हो सकता, इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिए।[३३] जो पुरुष खोटे ध्यान के उत्कृष्ट प्रपञ्चो का विस्तार करने मे चतुर है, वे इस लोक मे राग रूप अग्नि से प्रज्वलित होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र, मन्त्र

आदि साधनो के द्वारा काम–क्रोध के वशीभूत कुदेवो का आदर से आराधन करते है। सासारिक सुख के चाहने वाले और दुष्ट आशा से पीड़ित तथा भोगो की पीड़ा से वचित होकर वे नरक मे पड़ते है।[३४] वही बुद्धिमानो को ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तवन करने योग्य है, जो कि जीव और कर्मो के सम्बन्धो को दूर करने वाला ही हो, अर्थात् जिस कार्य से कर्मो से मोक्ष हो वही कार्य करना योग्य है।[३५]

ध्यान के भेद – ध्यान चार प्रकार का है–आर्त्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल।[३६] आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान ये दो अप्रशस्त है और धर्म्य तथा शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त है।[३७] ज्ञानार्णव के अनुसार सक्षेप रूचि वालो ने ध्यान तीन प्रकार का माना है, क्योकि जीव का आशय तीन प्रकार का होता है उन तीनो मे प्रथम तो पुण्य रूप शुभ आशय और दूसरा उसका विपक्षी पाप रूप आशय और तीसरा शुद्धोपयोग नामक आशय है।[३८] पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्धलेश्या के अवलम्बन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिन्तवन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहलाता है। जीवो के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह–मिथ्यात्व–कषाय और तत्वो के अयथार्थ विभ्रम से अप्रशस्त अर्थात् असमीचीन ध्यान होता है। रागदिक की सन्तान के क्षीण होने पर अन्तरग आत्मा के प्रसन्न होने से जो अपने स्वरूप का उपलभन अर्थात् प्राप्ति होती है वह शुद्ध ध्यान है।[३९]

ध्यान का समय – उस (ध्याता) के ध्यान करने के कोई नियत काल नही होता, क्योकि सर्वदा शुभ परिणामो का होना सम्भव है। इस विषय मे गाथा है काल भी वही योग्य है जिसमे उत्तम रीति से योग का समाधान प्राप्त होता हो। ध्यान करने वालो के लिए दिन रात्रि और बेला आदि रूप से नियम मे किसी प्रकार का नियमन नही किया जा सकता है।[४०] ज्ञानार्णव मे ध्यान के समय के विषय मे इस प्रकार कहा गया है कि हे आत्मन्! तेरे मन मे निश्चलता होते हुए, रागादि अविद्यारूप रोगो मे उपशमता होते हुए, इन्द्रियो के समूह के विषयो मे नही प्रवर्तते हुए, भ्रमोत्पादन करने वाले अज्ञानान्धकार के नष्ट होते हुए और आनन्द को विस्तारते हुए आत्मज्ञान के प्रगट होने पर ऐसा कौन सा दिन होगा जब तुझे वन मे चारो ओर से मृगादि पशु चित्रलिखित मूर्ति अथवा सूखे हुए वृक्ष के ठूठ के समान देखेगे। जिस समय तू ऐसी निश्चल मूर्ति मे ध्यानस्थ होगा, उसी समय धन्य होगा।[४१]

ध्यान का फल ज्ञानार्णव के अनुसार मनुष्य शुभ ध्यान के फल से उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी को स्वर्ग मे भोगते है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होते है।[४२] दुर्ध्यान से जीवो की दुर्गति का कारणभूत अशुभकर्म होता है, जो कि बड़े कष्ट से भी कभी क्षय नही होता।[४३] जीवो के शुद्धोपयोग ध्यान का फल समस्त दु खो से रहित,

स्वभाव से उत्पन्न और अविनाशी ज्ञान रूपी राज्य का पाना है अर्थात् शुद्धोपयोग से जीवो को केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है।[४४]

ध्यान का महत्व – जैसे रत्नो मे वज्ररत्न श्रेष्ठ, सुगन्धि पदार्थो मे गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ है, मणियो मे वैडूर्यमणि उत्तम है वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मे ध्यान ही सारभूत व सर्वोत्कृष्ट है।[४५] जिस प्रकार पाषाण मे स्वर्ण और काष्ठ मे अग्नि बिना प्रयोजन के दिखाई नही देती उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा दिखाई नही देती।[४६] निशि दिन घोर तपश्चरण भले करो, नित्य ही सम्पूर्ण शास्त्रो का अध्ययन भले करो परन्तु ध्यान के बिना सिद्धि नही।[४७] अनेक प्रकार की विक्रिया रूप असार ध्यानमार्ग को अवलम्बन करने वाले क्रोधी के भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नही कर सकते।[४८] स्वभाव से ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभाव का धारक यह आत्मा यदि समाधि मे जोड़ा जाय तो समस्त जगत को अपने चरणो मे लीन कर लेता है (केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है)।[४९]

ध्याता – धवला मे कहा गया है कि उत्तम सहनन वाला, निसर्ग से बलशाली शूर तथा चौदह या नौ पूर्व का धारण करने वाला (व्यक्ति) ही ध्याता होता है।[३८] महापुराण के अनुसार आर्त्त व रौद्र ध्यानो से दूर, अशुभ लेश्याओ से रहित लेश्याओ की विशुद्धताओ से अवलम्बित, अप्रमत्त अवस्था की भावना भाने वाला बुद्धि के पार को प्राप्त, योगी, बुद्धि बलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीरवीर, समस्त परिषहो को सहने वाला, ससार से भयभीत, वैराग्य भावनाये भाने वाला, वैराग्य के कारण भोगोपभोग की सामग्री को अतृप्ति से देखता हुआ, सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञान को नष्ट करने वाला, सम्यग्दर्शन से मिथ्याशल्य को दूर करने वाला मुनि ध्याता होता है।[५१] ज्ञानार्णव मे मुमुक्षु, ससार से विरक्त, शान्तचित्त, मन को वश मे करने वाला, शरीर व आसन स्थिर, जितेन्द्रिय, सवरयुक्त चित्त, धीर ऐसे ध्याता की प्रशसा की गयी है।[५२]

ध्याता न होने योग्य व्यक्ति – ज्ञानार्णव मे कहा गया है कि जिस यति के जो कर्म मे है, सो वचन मे नही है, वचन मे और ही कुछ है तथा जो वचन मे है सो चित्त मे नही है अर्थात् जो मायाचारी हो तथा मुनि होकर भी परिग्रहधारी हो ऐसे यति तथा मुनि के ध्यान को सिद्धि नही होती।[५३] और जो मुनि इन्द्रियो का दास हो, उग्र परिषहे नही जीती हो, मन की चचलता नही छोड़ी हो, विरागता को प्राप्त नही हुआ हो, मिथ्यात्व रूपी व्याध से वचित किया गया हो, जिनका मोक्षमार्ग मे अनुराग नही है ऐसे साधुओ को ध्यान की प्राप्ति नही है।[५४]

क्वार्टर न० II ४१/१६४ जजी कालोनी,
बिजनौर–२४६७०१ (उ०प्र०)

सन्दर्भ

१ जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहऽहणो झाणम ओ जायए अगणी।।
–आ० कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय, मूल, गाथा स० १४६

२ उत्तम सहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।
–ग्रद्धपिच्छचार्य, तत्वार्थसूत्र १/२७

३ एकाग्रग्रहण चात्र वैयग्रयविनिवृत्तये।
व्यग्र हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते।।
–आ० समन्तभद्र, तत्वानुशासन, श्लोक स० ५९

४ चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्। –आ० पूज्यवाद, सर्वार्थसिद्धि १/२०

५ सम्यग्ज्ञानादिक प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभि स्फुटम्।। –ज्ञानार्णव ३/११

६ उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्तत ।
ध्यानमाहुरथैकाग्राचिन्तारोधौ बुधोत्तमा ।। –वही २५/१५

७ एकचिन्तानिरोधो यस्तद्वद्ध्यान भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।। –ज्ञानार्णव २५/१६

८ इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेत स्थिर तत ।
ध्यान रत्नत्रय तस्मान्मोक्षस्तत सुखम्।।
–प० आशाधर, अनगार धर्मामृत, अधिकार स०।, श्लोक स० ११४

९ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद् ध्यानमत्रापि क्रमोनाप्यक्रमोऽर्थत ।।
–आ० राजमल्ल, पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक स० ८४२

१० तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। –पतञ्जलि, योगदर्शन ३/२

११ नाम च स्थापना द्रव्य भावश्चेति चतुर्विधम्।
समस्त व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्मवेदिभि ।।
–आ० समन्तभद्र, तत्वानुशासन, श्लोक ११

१२ एव नामादि भेदेन ध्येयमुक्त चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्य भावाभ्या द्विधैव तदवस्थितम्।। –तत्वानुशासक, श्लोक १३१
वाच्यस्य वाचक नाम प्रतिमा स्थापना मता। –तत्वानुशासन, श्लोक १००

१३ ध्येय वस्तु वदन्ति निर्मलधियस्तच्चेतनाचेतनम्
स्थित्युत्पत्तिविनाशलाञ्छनयुत मूर्त्रेतर च क्रमात्।
शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वर
सर्वज्ञ सकल शिव स भगवान्सिद्ध परो निष्कल ।। –ज्ञानार्णव ३१/१७

१४ गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। –आ० समन्तभद्र तत्वानुशासन, श्लोक १००

१५ इद वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम्।
प्रतिक्षणमनाद्यनन्त सर्वध्येय यथावस्थितम्।। —तत्वानुशासन, श्लोक ११५

१६ भाव ध्येय पुनर्ध्येयसनिभध्यानपर्यय। —वही श्लोक १३२

१७ अमी जीवादयो भावाश्चिद् चिल्लक्षलाञ्छिता।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभि ।। —ज्ञानार्णव ३१/१८

१८ अह ममास्त्रवो बन्ध सवरो निर्जराक्षय।
कर्मणामिति तत्वार्था ध्येया सप्तनवाऽथवा।। —आ० जिनसेन, महापुराण २०/१०८

१९ आलबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
ज ज मणसा पेच्छइ त त आलबण होई।।
—वीरसेनाचार्य, धवला, पु०स० १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृ० ३२

२० शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वर।
सर्वज्ञ सकल शिव स भगवान्सिद्ध परो निष्कल ।। —ज्ञानार्णव ३१/१७

२१ अथवा स्नातकावस्था प्राप्तो घातिव्यपायत।
जिनोऽर्हत् केवली ध्येयो विभ्रत्तेजोमय वपु ।। —आ० जिनसेन, महापुराण २१/१२०

२२ तत्रापि तत्वत पञ्च ध्यातव्या परमेष्ठिन।
सक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तारात्परमागमे।। —तत्त्वानुशासक श्लोक ११९

२३ सम्यज्ञानादिसपन्ना प्राप्तसप्तमहर्द्धय।
यथोक्तलक्षणा ध्येया सूर्युपाध्यायसाधव। —वही श्लोक १३०

२४ गयसित्थमूसग ब्भायारोरयणत्तयादिगुणजुत्तो।
णिय आदा ज्झायव्वो खयहिदो जीवघणदेसो।।
—आ० यतिवृषभ, तिलोयपणत्ती, अधिकार १, गाथा ४१

२५ एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वार्थे चिन्तानियमो इत्यर्थ। —राजवार्तिक १/२७

२६ ध्येय स्याद् परम तत्वमवाड्मानसगोचरम्। —आ० जिनसेन, महापुराण २१/२२८

२७ अथ लोकत्रयीनाथममूर्त्त परमेश्वरम्
ध्यातु प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम्।।
त्रिकालविषय साक्षाच्छक्तिविवक्षया
सामान्येन नयेनैक परमात्मानमामनेत्।। —ज्ञानार्णव ३१/२०-२१

२८ आ० ब्रह्मदेव द्रव्यसग्रह टीका, गाथा ५७, पृ २३०

२९ सुप्रयुक्तै स्वय साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसयमै
त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्घनाश्लेष प्रयच्छति।।
तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि
दृग्बोधसयमै कर्मनिगडानि शरीरिणाम्।। —ज्ञानार्णव ६/१-२

३० पुव्वकयब्भासो भावणाहि ज्झाणस्स जोग्गदमुवेदि।
ताओ य णाणदसणचरित्तवेरग्गजाणियाओ।
—वीरसेनाचार्य, धवला, पु०स० १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृ० २३

३१ हेयमाद्य द्वय विद्धि दुर्ध्यान भववर्धनम्।
उत्तर द्वितीय ध्यान उपादेयन्तु योगिनाम्।। —आ० जिनसेन, महापुराण २१/२९

३२ आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यान देहिना द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्त धर्मशुक्लविकल्पत ।।
स्याता तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदु खदे।
धर्म शुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे।। —ज्ञानार्णव २५/२०–२१

३३ स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभ ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्व यत सन्मार्गहानये।।
सन्मार्गात्प्रच्युत चेत पुनर्वर्षशतैरपि।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितु पथि।। —ज्ञानार्णव ४०/६–७

३४ क्षुद्रध्यानप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिता
मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृता ।
कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् ससारसौख्यार्थिनो
दुष्टाशाभिहता पतन्ति नरके भोगार्त्तिभिर्वञ्चिता ।। —ज्ञानार्पव ४०/१०

३५ तद् ध्येय तदनुष्ठेय तद्विचिन्त्य मनीषिभि ।
यज्जीवकर्मसबन्धविश्लेषायैव जायते।। —वही ४०/११

३६ आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि। —आ० गृद्धपिच्छाचार्य, तत्वार्थसूत्र ९/२८

३७ अट्ट च रुद्दसहिय दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्म सुक्क च दुवे पसप्थझाणाणि णेयाणि।। —आ० वट्टकेर, मूलाचार, गाथा स० ३९४

३८ सक्षेपरुचिभि सूत्रात्तान्निरूप्यात्मनिश्चयात्।
त्रिधैवाभिमत कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा।।
तत्र पुण्याशय पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशय ।
शुद्धोपयोगसज्ञो य स तृतीय प्रकीर्तित ।। —ज्ञानार्णव ३/२७–२८

३९ पुण्याशयवशाज्जात शुद्धलेश्यावलम्बनात्।
चिन्तनाद्वस्तुतत्वस्य प्रशस्त ध्यानमुच्यते।।
पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्।
कषायाज्जायतेऽजस्त्रमसद्ध्यान शरीरिणाम्।।
क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तराम्मनि।
य स्वरूपोपलम्भ स्यात्स शुद्धाख्य प्रकीर्तित ।। —ज्ञानार्णव ३/२९–३१

४० आणियदकालो–सव्वकालेसु सुहपरिणाम सभवादो। एत्थ गाहाओ कालो वि सो च्चिय जहि जोगसमहाणमुत्तम लछइ। ण हु दिवसाणिसावेलादिणियमण ज्झाइणो समए।
—वीरसेनाचार्य, धवला पुस्तक स० १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृ० १९ टीका ६६/६, अमरावती, प्र०स०

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क १०१ ०० रु

वार्षिक मूल्य ६ रु , इस अंक का मूल्य १रुपया ५० पैसे

यह अक स्वाध्याय शालाओं एव मदिरों की मांग पर नि शुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एव समाचार प्राय नही लिये जाते।

सपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक भी भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मदिर, नई दिल्ली–२

मुद्रक मास्टर प्रिटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली–३२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष–५० किरण–४ अक्टूबर–दिसम्बर ९७

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२

दूरभाष : ३२५०५२२

व्यवहारनय अभूतार्थ नहीं

रूपचन्द कटारिया

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठि हवदि जीवो।। –समयसार, गाथा–११

इस गाथा की सस्कृत छाया आचार्यो द्वारा निम्न प्रकार से की गई है–

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्ध नयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः।।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इसकी उत्तरवर्ती बारहवी गाथा "सुद्धो सुद्धोदेसो" की टीका मे उक्त च करके निम्न प्रामाणिक गाथा भी उद्घृत की है –

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थात् जिनमत मे दीक्षित होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़ो। क्योकि व्यवहार के बिना तीर्थ क्षीण होता है और निश्चय के बिना तत्व क्षीण होता है।

इसी भाति यही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे जिन शासन की व्याख्या करते हुए निम्न प्रकार से कही है –

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादो।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।

अर्थात् जिन शासन मे मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकार का कथन किया गया है। इसमे मोक्ष का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मार्ग है और निर्वाण की प्राप्ति होना उसका (मार्ग का) फल है।

इस भाति इस गाथा मे वर्णित मार्ग और उपर्युक्त गाथा मे कथित तीर्थ दोनो एकार्थवाची है और जिन शासन के अग है और जिन शासन का कोई भी अग अभूतार्थ नही है। क्योकि आगम उनका प्रतिपादन करता है और वह आगम साधु का चक्षु होता है। जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथा से स्पष्ट है –

आगम चक्खू साहू इंद्रियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धापुण सव्वदोचक्खू।। –चारित्राधिकार, गाथा–३४

अर्थात् मुनि आगम रूपी नेत्रो के धारक है, ससार के समस्त प्राणी इन्द्रिय रूपी चक्षुओ से सहित है, देव अवधिज्ञान रूपी नेत्र से युक्त है और अष्टकर्म रहित सिद्ध भगवान सब ओर से चक्षु वाले है अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थो को युगपत् जानने वाले है।

यदि साधु एक नय को पकड़ कर चलेगा तो उसकी प्रवृज्या नही है और आगम से हीन साधु आत्मा और पर को नही जानता है, जैसा कि श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की निम्न गाथा मे कहा है –

अनेकान्त

वर्ष ५०	वीर सेवा मंदिर, २९ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अक्टूबर-दिसम्बर
किरण ४	वी नि स २५२४ वि स २०५४	१९९७

जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि भायो।
जीव! तै मूढ़पना कित पायो?

अशुचि, अचेत, दुष्ट तन माही कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरकै विषय रोग लिपटायो।।
जीव! तै मूढ़पना कित पायो?

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गॅवायो।
तीन लोक को राज छांडिकै, भीख मांग न लजायो।।
जीव! तै मूढ़पना कित पायो?

मूढ़पना मिथ्या जब छूटै, तब तू सत कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव बिलसो, यो सतगुरू बतायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

—कविवर द्यानतराय

वन्दनीय साधु

जो संजमेसु सहिओ आरम्भपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणसे लोए।।

जो संयमों से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही सुर, असुर एवं मनुष्य सहित लोक में वन्दना करने योग्य है।

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू।।

जो बाईस परिषह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियो से सयुक्त है तथा कर्मो की निर्जरा और क्षय करने वाले वे साधुवंदनीय होते हैं।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य।।

जो पांच महाव्रत से युक्त और तीन गुप्तियों से सहित है वह सयमी होता है वही निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग है और वही वन्दना करने योग्य है।

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।

परमोत्त्कृष्ट श्री जिनेन्द्र भगवान ने वस्त्र रहित–दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र का जो उपदेश दिया है वही एक मोक्ष का मार्ग है और अन्य सब अमार्ग हैं।

सूत्र पाहुड़

'प्रकृति: शौरसेनी' सूत्र का वास्तविक प्रयोजन क्या?

डा. के.आर. चन्द्र

अभी अभी शौरसेनी भाषा के बारे मे जो प्रचार किया जा रहा है उसके बारे मे भी थोड़ासा विचार करना अनिवार्य बन गया है। अनेक प्राकृत भाषाओं के विकास क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी का क्या स्थान है यह जानना परमावश्यक बन गया है। सदर्भ को तोड–मरोडकर किसी सूत्र का अपना मनमाना अर्थघटन करना एक अलग बात है और अन्य भाषाओ के सदर्भ के साथ उसका अर्थ समझना अलग बात है। एकान्त सत्यांश अवश्य है, वह भी तब जब अन्य अन्तो का, पक्षो का, दृष्टियो का पूरा ध्यान रखा जाता है। यदि अन्य अन्तो को तिलाजलि देकर, उनका सर्वथा बहिष्कार करके एकान्त कूटस्थ नित्य का रुख अपनाया जाय तो वह एकान्त–सत्यांश पूर्णतया झूठ और मिथ्या हो जाता है। ऐसी ही कुछ परिस्थिति इन कुछ वर्षो मे आग्रहकदाग्रह अथवा ऐसा कहिए कि जानबूझकर खड़ी की जा रही है।

'प्रकृति: शौरसेनी' (प्राकृत प्रकाश, वररुचि, परिच्छेद एव सूत्र) (१० १, ११.२)

इस सूत्र का सदर्भ से विच्छेद करके जोर–शोर से इस प्रकार समझाया जा रहा है, कि "**शौरसेनी प्राकृत**" भाषा सभी प्राकृत भाषाओं की जननी जन्मदाता, स्रोतभाषा है। यही भाषा सारे भारत में पूर्वकाल में प्रचलित थी और इसी भाषा में से अन्य प्राकृतो की उत्पत्ति हुई है। इतना ही नही सभी आधुनिक भाषाएँ भी इसी मे से निकली है।

चलो एक बार ऐसा भी मान लें तो क्या हर्ज है। परतु भाषाविज्ञान का जब यथायोग्य अध्ययन करते है तब यह बात उचित नहीं ठहरती। उपरोक्त सूत्र के पहले जो अन्य सूत्र दसवें और ग्यारहवे परिच्छेद मे (प्राकृत प्रकाश: वररुचि) दिये गये हैं वे इस प्रकार है–

(१) पैशाची १० १, प्रकृति. शौरसेनी १० २

(२) मागधी ११.१, प्रकृति. शौरसेनी ११ २

यहाँ पर विवक्षित अर्थ यह है कि जो लक्षण शौरसेनी भाषा के बताये गये हैं उनके सिवाय कुछ अन्य लक्षण जो बताये जा रहे हैं वे पैशाची प्राकृत और मागधी प्राकृत पर लागू होते हैं। यहॉ पर प्राकृति का अर्थ दूसरी भाषा समझने के लिए शौरसेनी का आधार लिया जा रहा है और फिर अमुक परिवर्तन करने पर, जोडने पर, निकाल देने पर पैशाची प्राकृत और मागधी प्राकृत के लक्षण बन जाते हैं।

वररुचि के व्याकरण में तो 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग हुआ है परंतु हेमचन्द्राचार्य इसी संबंध में शौरसेनी प्राकृत के लिए अन्त में जो सूत्र देते है उसे योग्यरूप में समझना होगा। प्रारभ मे महाराष्ट्री प्राकृत के नियमों का वर्णन करने के बाद शौरसेनी का वर्णन करते हैं, महाराष्ट्री प्राकृत से उसकी जो विशेषताएँ हैं उनका वर्णन ८.४.२६० से २८५ सूत्र में करने के बाद अन्तमें वे सूत्र नं. ८ ४.३८६ मे कहते है–

शेषं प्राकृतवत् ८.४.२८६

पुनः च यदि हेमचन्द्राचार्य मागधी प्राकृत के नियमों का वर्णन करने के बाद अन्त में उसके लिए भी ऐसा ही कहते हो कि–

शेषं शौरसेनीवत् ८.४.३०२

तब फिर इन सूत्रों में शब्द के अन्त में जो 'वत्' प्रत्यय है उसे 'प्रकृति' शब्द के समानार्थ मानकर शौरसेनी की प्रकृति प्राकृत अर्थात् महाराष्ट्री प्राकृत बन जाएगी। क्या सह सत्य मानने के लिए शौरसेनी भाषा के प्रबल प्रचारक तैयार होंगे? यदि हाँ तो शौरसेनी भाषा ही महाराष्ट्री प्राकृत में से निकली है यह उन्हें मानना पडेगा, है ऐसा तथ्य मानने की उनकी तैयारी?

हेमचन्द्राचार्य ने तो पैशाची के लिए भी ऐसा ही सूत्र दिया है –

शेषं शौरसेनी वत् ८.४.३२३

तब क्या यह माना जाय कि पैशाची भी शौरसेनी में से जन्मी है। वररूचिने इसी बात को इस रूप मे कहा है–

''**प्रकृतिः शौरसेनी**'' – सूत्र नं. १० २

यदि ऐसा भी मान लें तो फिर नीचे जो कहा जा रहा है उसका क्या अर्थ होगा और तब फिर शौरसेनी मौलिक भाषा है, प्राचीन है, सभी प्राकृतों की जन्मदात्री है, इत्यादि जो कुछ कहा जा रहा है, प्रचार किया जा रहा है, उसका क्या होगा?

वररूचि के प्राकृत प्रकाश मे परिच्छेद १२ मे दिये गये निम्न दो सूत्र ध्यान से समझने लायक हैं। (१) **शौरसेनी** १२.१ और (२) **प्रकृतिः संस्कृतम्** १२.२।

अर्थात् शौरसेनी प्राकृत के प्रचारकों के अनुसार इसका अर्थ होगा संस्कृत मे से शौरसेनी निकली है, उसका अपना स्वतत्र अस्तित्व नही था, वह तो सस्कृत (रूपी माता) से जन्मी है और उसका मूल आधार ही सस्कृत है।

यदि 'प्रकृति' शब्द का अर्थ जन्मदात्री ले लिया जाय तो फिर हेमचन्द्राचार्य ने जो सूत्र दिया है उसका अर्थ क्या होगा?–

''**अथ प्राकृतम्**'' ८ १ १ और उसकी वृत्ति मे जो कहा गया है–

''**प्रकृतिः संस्कृतम्**''

इसका अर्थ यही होगा कि प्राकृत की जन्म–दात्री संस्कृत भाषा है, सस्कृत भाषा मे से प्राकृत भाषा निकली है और उसी नय से शौरसेनी भाषा प्राकृत में से निकली है ऐसा उनके निम्न सूत्र से किसी प्रकार के विरोध के बिना मानना ही पडेगा–

''**शेषं प्राकृतवत्**'' ८.४ २८६

–३७५, सरस्वती नगर, आजाद सोसाइटी के पास

अहमदाबाद–३८००१५ (गुजरात)

नियमसार की भाषा का अध्ययन

डा. ऋषभचन्द्र जैन ''फौजदार''

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ आगमतुल्य माने जाते हैं। इसलिए उनके ग्रन्थो की भाषा को आर्ष प्राकृत कहा जा सकता है। विद्वानों ने कुन्दकुन्द की भाषा को ''जैन शौरसेनी'' नाम दिया था, जो बाद में सर्वमान्य हो गया। उपलब्ध प्राकृत भाषा के व्याकरण उनकी भाषा पर पूर्णत· लागू नहीं होते, यह भी सर्वविदित है। प्राकृत–व्याकरण आचार्य कुन्दकुन्द से शताब्दियों बाद रचे गये, इसलिए उनकी भाषा को व्याकरण से अनुशासित करने का आग्रह भी नही होना चाहिए।

भाषागत अनुसन्धान की दृष्टि से कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्रामाणिक सस्करण उपलब्ध नही है, क्योंकि प्राय सभी सस्करणों मे अलग–अलग मूलपाठ देखा जा सकता है जो अनुसंधान मे अनेक समस्याएँ पैदा करता है। अत आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के मानक सस्करण तैयार होना नितान्त आवश्यक है। इसी उद्‌देश्य को ध्यान मे रखकर मैने देश के विभिन्न भागों से संकलित कन्नड़ एवं देवनागरी लिपि की महत्वपूर्ण प्रचीन पाण्डुलिपियो और प्रकाशित संस्करणो का उपयोग करते हुए नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन करके विशिष्ट संस्करण तैयार किया है, जो अब प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है। उसमें सम्पादित मूलपाठ के आधार पर नियमसार की भाषा का अध्ययन किया गया है, जिसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है–

स्वर–प्रयोग

नियमसार में अ,इ,उ,ए, और ओ इन पाँच ह्रस्व स्वरों एव आ,ई,ऊ इन तीन दीर्घ स्वरों का प्रयोग मिलता है। उक्त स्वर ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले शब्द उदाहरण स्वरूप दस प्रकार है–– अ–अक्खय (१७७), अगध (४६)

इ– इत्थि (५९), उ– उदयठाणा (४०),उवओगों (१०)। ए–एक्कों (१५७), एगो (१०२)। ओ– ओही (१२), ओदइय (४१)। आ–आदा (१८), आयासं (९)। ई–ईहापुव्वं (१७५), ईसाभावेण (१८६) ऊ– दीर्घ–स्वर से प्ररम्भ होने वाला कोई शब्द नियमसार में नहीं मिला है। ऊ–स्वर का मध्य एवं अन्त्य प्रयोग उपलब्ध है। यथा–हेऊ (२५) णमिऊण (1)

व्यंजन–प्रयोग

ग्रन्थ मे क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स और 'ह, इन व्यजन वर्णो का प्रयोग मिलता है। इनके उदाहरण निम्न प्रकार है:–

क–कज्जं (३) कक्कसं (६२)। ख–खइय (४१), खमया (११५) ग–गमण (१८४), गहण (५४) घ–घणघाइ (७१) च–चउ (२३), चक्खु (५१)। छ–छद्दव्वाणि (३४), छप्पयारा (२०)। ज–जणणं (१७९), जप्पं (९५)। झाणं (८९), झायदि (८३,८९)। ठ–ठाण (१७५) ठिदा (९२)। ण–णयरे (५८), णाणा (१५६)। त–तच्चं (५०), तण्ह (६)। थ–थावरेसु (१२६), थी (४५)। द–दप्पो (७३), दव्व (२०)। ध–धम्मो (९), धम्मत्थी (१८४)। प–पच्चक्खं (१६७), पज्जतं (१८३) फ–फलं (१५७), फासं (२७)। ब–बहुणा (११७), बहिरप्पा (१४९)। भ–भत्ती (१३४), भयं (१३२)। म–मग्ग (१८६), मज्झ (२६)। य–य (९) र–रइ (६), रसो (२७)। ल–लक्खण (१०८), लोय (१६९)। व–वयण (३), ववदेसो (२९) स–सज्झाय (१५३), सण्णा (५९)। ह–हस्स (१३१), हरिस्सठाणा (३९) आदि। उपर्युक्त व्यंजनों में से ट, ड तथा ढ का प्रयोग शब्दारम्भ मे नही मिलता है। मध्य और अन्त में इनका प्रयोग उपलब्ध है। यथा–अट्ट (१२९), (१८१), णिद्दंडो (४३) पडिक्कमणं (८२, ९१) गूढे (६५), अगाढत्त (५२) आदि।

संयुक्त–व्यंजन प्रयोग

यहां २५ सयुक्त–व्यजनो का प्रयोग हुआ है, जिन्हें निम्नलिखित उदाहरणों मे देखा जा सकता है–

कक–: कक्कसं (६२), सुक्क (८९, १२३), क्ख–· चक्खु (१४), पच्चक्खं (१६७), च्छ–अच्छेय (१७७), मिच्छा (९१), ज्ज–कज्ज (३) पज्जंतं (१८३), ज्झ–मज्झं (२६), सज्झाय (१५३), ट्ट–अट्ट (१२९, १८१), परियट्टण (३३), ट्ठ–अट्ठ (४७, ७२) उवट्ठिदो (९९), ड्ढ–उड्ढ (७६) बुड्ढो (७९), ण्ण–सण्णाणं (११,१२) सण्णा (५९), त्त–अत्ता (२६) भत्ती (१३४), त्थ–धम्मत्थी (१८४) इत्थि (५९), द्द–णिद्दडो (४३) णिद्दा (६, १८०), द्ध–लद्धी (१५६) सुद्ध (८, १७७), प्प–जप्प (९५) अप्पवसो (१४६), ब्भ–णिब्भयो (४३) अब्भुट्ठिदो (१५२), म्म–जम्म (४७), धम्मो (९), ल्ल–णिस्सल्लो (४४), अल्लिय (४७), व्व–दव्व (२०) णिव्विअप्पेण (१२१), स्स–हस्सं (१३१) हरिस्सठाणा (३९), ण्ह–तण्ह (६) जोण्ह ९१३९), म्ह–तम्हा (५४,९२) जम्हा (३६), ण्ड–कमण्डल (६४)।

विभक्ति रूप

पुलिग विभक्तिरूपो मे निम्नलिखित प्रयोग यहाँ उपलब्ध होते हैं– कर्ता एकवचन मे जीवो (१०, ३७) लोगो (१४७, १३८) बहुवचन में समणा (१४५) पुरिसा (५३)। कर्म एकवचन में जिण (१) जीव (४६), बहुवचन में जीवा (४८, ४९) सिद्धा (७२)। करण एक वचन जीवेण (९०) दोसेण (५७) बहुवचन में पज्जएहि (९) दुविहेहि (१९) जिणेहि (१३४) सम्प्रदान और सम्बन्ध एकवचन मे सवरे (१००) पदेसे (६५), बहुवचन मे तसेसु (१२६) थावरेसु)।

स्त्रीलिग रूपो मे कर्ता एकवचन में छुहा (१८०) बाहा (१७९) पीडा (१७९) कर्म एकवचन मे माय (११५) किरिय (१२२, १५२)। करण एकवचन मे खमया (११५) सम्बन्ध बहुवचन मे पयडीण (१७६) अधिकरण एकवचन मे भावणाए (७६, ११४)।

नपुसकलिंग के रूपो मे–कर्ता एकवचन मे णाण (१६०, १६१) दसण (१६२, १६३) बहुवचन में दव्वाणि (३४) रुद्दाणि (१८१) सेसाणि (३७)। कर्म एकवचन मे कम्म (१४६) आवास (१४७)। करण एकवचन में णाणेण (१६१) अपादान एकवचन मे कम्मादो (१११)। सम्बन्ध एकवचन मे कम्मस्स (१८), बहुवचन में तच्चाण (५, ५२) कम्माण (११७)। अधिकरण एकवचन

में णाणे (१००) दंसणे (१००) चरित्ते (१००) चरिए (१५२) बहुवचन मे तच्चेसु (१३९) सुत्तेसु (८९) जप्पेसु (१५०) आदि।

सर्वनाम रूप

सर्वनाम रूपों में कर्ता एकवचन में सो (७, २८) आदि २६ बार) जो (२८, ५७) जं (३, २५) जा (६९) तथा बहुवचन में ते (१५) जे (१५४) एवं एदे (३४, ४९) रूप मिलते है। कर्म एकवचन मे तं (३, ११, १३, २५), करण एकवचन मे जेण (४७) तेण (८, ८२)। अपादान एकवचन में जम्हा (३६, ८४) तम्हा (९२, ९३)। सम्बन्ध एकवचन मे जस्स (१२७, १२८) तस्स (२, ४) बहुवचन में एदेसिं (४, १७) तेसि (७९, ८०) अधिकरण एकवचन मे तम्हि (९२), बहुवचन में तासु (५९) रूप मिलते हैं। निजवाचक सर्वनामो मे मए (१८७) मज्झ/मज्झ (१००, १०४) मे (९९, १००) रूप मिलते है। सर्व शब्द के सव्व (९७, १०३) सव्वे (४५, ४९) एव सव्वेसि (६०) रूप प्राप्त होते है।

धातुरूप

वर्तमान काल प्रथम पुरूष (उत्तमपुरूष) एक वचन मे करेमि (१०३) होमि (८१) परिवज्जामि (९) एव वोसरे (९९, १०३) रूप मिलते है। मध्यम पुरुष एकवचन में इच्छसि (१४७) एवं मण्णसे (१६१) रूप प्रयुक्त हुए हैं। अन्य पुरूष के एकवचन और बहुवचन दोनों के रूप पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते है। एकवचन में– उच्चइ (७, २९) कुणइ (९३, १४), कुणदि (८५, ८६) कुव्वइ (१०६) जणेति (१२८) जाणइ (१६९) जाणदि (९७, १५९) जाणेइ (१७०) जुजदि (१३९) जुंजदे (१३७, १३८) झादि (१४६) झायइ (१२१) झायदि (८३, ८९) भावेइ (१११) भावइ (९१, ९४) विज्जदि (५४, १८२) विज्जदे (१७९) हवदि (४, ११३) हवेइ (५, २०) होइ (२, ४) होदि (१८, २१) आदि। अन्य रूपो मे ये दृष्टव्य हैं–णिवत्तदे (५९) की भॉति अन्तिम ''द'' लोप वाले गेण्हए (९७) चिंतए? (९७, ९७) एव पडिवज्जए (१०४) अन्य पुरूष बहुवचन में कहयंति (१४५) गच्छति। (१८४) णिदंति (१८६) परुवेति (२४) भणंति (१४१, १४६) सति (३, ४२) हवति (८, २४) होति (१९, ३३)।

भविष्यत काल उत्तम पुरूष एकवचन में वोच्छामि (१) एव पवक्खामि (५४, ७६, ८२) रूप मिलते हैं। मध्यम पुरूष का कोई रूप प्रयुक्त नहीं है। अन्य पुरूष एकवचन में ''काहदि'' (१२४) रूप मिला है। विधि एवं आज्ञार्थक रूपों में विणु (१७१) धरू (१४०) कुज्जा (१४८) करेज्ज (१५४) जाण (४६, १५३) कुणह (१८६) चिंतिज्जो (९८) वज्जिज्जो (१५६) हवे (५, ११) एवं पूरयंतु (१८५) के प्रयोग उपलब्ध होते है।

प्रत्यय–प्रयोग

कृदन्त प्रयोगो की दृष्टि से देखने पर सम्बन्ध कृदन्त, वर्तमान कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, विध्यर्थ कृदन्त तथा हेत्वर्थ कृदन्त के रूप मिलते हैं। सम्बन्ध कृदन्त के विभिन्न रूप इस प्रकार है।

१. मोत्तूण (८३, ८४)

२ काऊण (१४०) चइऊण (९१) ठविऊण (१३६) णमिऊण (१) दट्ठूण (५९) परीक्खऊण (१५५) पेच्छिऊण (५८) लद्धूण (१५७)।

३ किच्चा (८३, ९५, १२०) पच्चा (९४, १८७) सोच्चा (१८६)।

४ चइत्तु (१५७) परिहरित्तु (१२१) सठवित्तु (१०९)।

५ चत्ता (८८) परिचत्ता (६२, ८६)।

वर्तमान कृदन्त के कतिपय प्रयोग इस प्रकार देखे जा सकते हैं–अवलोगतो (६१) कुव्वतो (१५२) जाणंतो (१७२) पस्सतो (१७२) पेच्छतस्स (१७६) वदतस्स (६२) वहतस्स (६०)। भूतकालिक कृदन्त के भी कतिपय उदाहरण देखे जा सकते है–भणिद (१, १३), कद (१८७) आदि। विध्यर्थ कृदन्त के कायव्व (१५४) कायव्वो (११३) णादव्व (१७) णादव्वा (१६) णादव्वो (२५) बोधव्वा (१४२) मुणेयव्व (१६०) रूप मिलते हैं। हेत्वर्थ कृदन्त के धरिदु (१०६) एव कादु (११९, १५४) रूप मिले हैं।

अव्यय–प्रयोग

''अथवा इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए ''अहव'' (३१, ५९) ''व'' (५७) एव ''वा'' (३९, ४०, ४१, ५८, ६७) का प्रयोग मिलता है। ''इति''

अर्थक इदि प्रयुक्त हुए है। ''ति'' एव ''त्ति'' का प्रयोग वैशिष्टय इन उदाहरणो में देखा जा सकता है–ति–मग्गफल (२) विहावणाण ति (१०) सहावणाणंति (११) कारणं ति (२५)। त्ति को भी देखिए–दिट्ठि त्ति (१४), दव्वो त्ति (२९) अत्थिकाय त्ति (३४) होदि त्ति (६४, १३४) गुत्ति त्ति (६८, ७०) मग्गोत्ति (१४१) जुत्ति त्ति (१४२)।

नियमसार मे ''एव'' का प्रयोग स्वतन्त्र शब्द के रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। यहां यह सर्वत्र अपने पूर्ववर्ती शब्द के साथ सन्धि कर लेता है। यथा–चेव–च+एव (१२, २०) णेव–ण+एव (२६, ७७, ७८), तस्सेव–तस्स+एव (५७, ५८), तत्थेव–तत्थ+एव (९८, १७९, १८०) झाणमेव–झाणं+एव (९२, ९३), णिव्वाणमेव–णि वाणं+एव (१८३) आदि।

निश्चयार्थक ''खलु'' के अर्थ में ''खलु'' (३, ३९, १४४) एवं ''खु'' (१००, ११५) दोनो प्रयोग उपलब्ध है। इसी अर्थ मे ''हि'' (६१, ७८) एव ''हु'' (२०, ३४, ३५, ४९) भी मिलते है। ''और'' अर्थ मे ''च और ''य'' दोनो मिलते है। ''तु'' के लिए ''दु'' का बत्तीस बार प्रयोग हुआ है तथा पाच बार ''णो'' भी आया है। निषेध अर्थ मे ''मा'' (१८६) भी मिला है। ''अपि'' के लिए ''पि'' (४, १३५) एव ''वि'' (१४) का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त अव्ययों के अतिरिक्त ''इह'' (१०८), एत्तो (७६), एवं (१०६, १४०), कह (१३७, १३८), किचि (१०३),केइ (९७,१८६), कोई (१६६, १६९), जह (४८, ९४, १६०), जाव (१८४) तह (४८, ९४, १६०) ताव (३६) ण (१०४), तइया (१६२, १६३), तत्तो (१८४, तत्थ (९८, १७०, १८०), तदा (९४), पुणो (२५, २४), सपदी (३२) आदि भी देखे जा सकते है।

संख्यात्मक प्रयोग

नियमसार मे कतिपय सख्यात्मक प्रयोग भी मिलते है यहा एक के लिए ''एक्को'' (१५७), एगो (१०१, १०२) एव एय (२७, ३६) दो के लिए ''दु'' (२, १०, ११, १३) एव दो (२७) तीन के लिए ''ति''– (१२, ३१) ''तिण्णि'' (१४) एव ''तिदिय'' (५८)। चार के ''चउ'' (१२, १७) आदि), चउक्कस्स

(२५), चउण्णाणं (३३१ पांच के लिए ''पंच'' (७३) एव ''पचम'' (६०)। छह के लिए ''छ''– (२०, २१, ३४)। सात के लिए (सत्त'' (१६)। आठ के लिए ''अट्ठ'' (४७, ७२, १७७) तथा चौदह के लिए ''चउदह'' (१७) शब्दो का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से नियमसार की भाषा के सन्दर्भ मे निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—

१ प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध होने वाले वर्णो मे से नियमसार की भी भाषा में ऊ, ट, ड एवं ढ वर्ण का प्रयोग शब्द के आरम्भ में नहीं हुआ है, किन्तु इनका अनादि प्रयोग उपलब्ध है।

२ पुलिंग शब्दरूपों में कर्ता एकवचन में– ''ओ'', बहुवचन मे ''आ'', कर्म एकवचन में अनुस्वार (–), बहुवचन मे ''आ'', करण एकवचन मे ''एण'', बहुवचन में ''एहि'' ''एहिं'', सम्प्रदान और सम्बन्ध एकवचन में ''स्स'', बहुवचन में ''आणं'' और ''आण'', अपादान एकवचन मे ''ओ'' एव ''दो–आदो'', अधिकरण एकवचन में ''ए'', बहुवचन मे ''एसु'' विभक्ति चिन्ह पाये जाते है।

३ स्त्रीलिंग रूपों का प्रयोग अधिक नही हुआ है। कर्ता एकवचन मे ''आ–, कर्म एकवचन में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है तथा अनुस्वार (–) का प्रयोग मिलता है। करण एकवचन मे सस्कृत की भाँति ''खमया'' रूप है। सम्बन्ध बहुवचन में ''इण'' और अधिकरण एकवचन में ''ए'' चिन्ह मिलते हैं।

४. नपुंसक लिग में कर्ता एवं कर्म एकवचन मे अनुस्वार (–) तथा ''बहुवचन में'' आणि''·चिन्ह मिलते हैं। शेष पुलिंग रूपों की भांति ही हैं। यहां ''त'' लोप के प्रयोग भी अधिकरण एकवचन मे मिलतें है। यथा–चरित्ते (१००) वरिए (१५२)।

५ सर्वनाम रूपों में कर्ता बहुवचन मे ''ए'', अपादान एकवचन में म्हा'', सम्बन्ध में ''एसि'' अधिकरण एक वचन मे ''म्हि'', ''ए'', बहुवचन में

''सु'' विभक्ति चिन्ह मिलते हैं। शेष रूपों में से कुछ यहॉ उपलब्ध नहीं है और अन्य कतिपय सज्ञारूपों जैसे ही हैं।

६ नियमसार के धातुरूपों मे अन्य पुरूष एकवचन मे ''इ'' एवं ''दि'' दोनो प्रत्ययों का प्रयोग उपलब्ध होता है। हस्तलिखित प्रतियां भी इसका समर्थन करती है। सस्कृत के आत्मनेपद के रूपों की भाँति यहॉ ''णिवत्तदे'' तथा अन्तिम'' दा लोप वाले ''गेण्हए'' एवं पडिवज्जए'' रूपों को भी देखा जा सकता है।

७ धातुरूपों की विविधता ''झादि, झायदि'', ''हवदि, हवेइ, होइ, होदि'' और ''कुणदि'', कुणइ, कुव्वइ'' जैसे रूपों मे देखी जा सकती है।

८. भविष्यत काल अन्य पुरूष एकवचन का ''काहदि'' रूप यहाँ आया है। कतिपय सम्पादकों ने इसे वर्तमान का रूप मानकर ''क्रियते'' रूपान्तर किया है, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

९ आज्ञार्थक धातुरूपों मे एक ही धातु के निम्नलिखित रूप प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं– जाण, जाणह, जाणीहि, जाणेहि, विजाणहि और वियाणहि।

१०. आज्ञार्थक ''जाण'' के ही अर्थ में यहाँ ''विणु'' का प्रयोग भी उपलब्ध है।

११. सम्बन्ध कृदन्त के ऊण, तूण, च्चा, त्ता और त्तु ये पाँच प्रत्यय दृष्टिगोचर होते है।

प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान
वैशाली–८४४१२८ (बिहार)

आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

लोक मे अनन्त वस्तु विद्यमान है। सभी वस्तु अनेक धर्मात्मक है। समस्त धर्मो का युगपत्–कथन असभव है। वाणी युगपत् कथन सामर्थ्यवान् नहीं है, क्योकि यह तो क्रमवर्तिनी होती है। वस्तु–स्वरूप के प्रगट करते समय जब विवक्षित धर्म का कथन किया जाता है तब अविवक्षित धर्मो का अभाव नहीं अपितु वे गौण होते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' पद का अर्थ कथचित् याने अपेक्षासहित है। 'स्यात्'–शब्द के प्रयोग से सर्वथा अर्थात् एकान्त का निषेध होता है। जैनागम स्यात् पदाङ्कित है, इसीलिए जगत् मे अविरोध को प्राप्त और सम्यक् है। जैसे कि कहा भी गया है–''परसमयो (जैनेतर मतो) का वचन सर्वथा कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनी का वचन कथचित् (स्यात्) कहा जाने से वास्तव मे सम्यक् है। यथा –

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।। –प्रवचनसार परिशिष्ट

आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद सिद्धान्त के सम्यक् प्रतिपादक है। इन्होने स्याद्वाद और केवलज्ञान को एक ही माना है। यथा–

स्याद्वादे केवलज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।। –आप्तमीमासा, १०५

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों सब तत्त्वो के प्रकाशक है। दोनों के प्रकाशन मे मात्र साक्षात् असाक्षात् का अन्तर है। जो इन दोनो के द्वारा प्रकाशित नही है, वह अवस्तु है।

सर्वथा 'पद' विवक्षित धर्म के विरोधी धर्म का निषेध करता है, अत· मिथ्या है, किन्तु 'स्यात्' पद विवक्षित धर्म के साथ–साथ विरोधी धर्म को भी स्वीकार करता है, अत· स्यात् अर्थात् 'कथंचित्' पद सम्यक् अर्थात् समीचीन है। स्यात् पद वस्तु के समस्त धर्मों का अर्थात् वस्तु के यथार्थ का स्वरूप प्रकाशक है।

स्याद्वाद सिद्धान्त–सम्मत जिन–शासन त्रैलोक्य में जयशील है, क्योंकि इस सिद्धान्त मे यह शक्ति है कि वह अनेक धर्म युक्त प्रमाण को अनेकान्त बना देता है और परस्पर विरोधी नयो को सम्यक् बना देता है। जैसा कि प्रतिपादित है–

श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनं।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम्।।

प्रमाण रूप स्याद्वाद सामान्य–विशेषात्मक वस्तु को विषय करने वाला है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते है–

स्याद्वाद सिद्धान्त की विवक्षा से वस्तु नित्यानित्य मानी गई है। कोई एकान्तवादी वस्तु को सर्वथा नित्य मानता है तो वस्तु की अनेक अवस्थाओं का पलटना कैसे सभव है? जो मिट्टी पिण्ड रूप है, वह सदैव पिण्ड रूप ही रहेगी, उससे घटोत्पत्ति कभी नही होगी। नित्यता के सर्वथा एकान्त पक्ष मे ससार और मोक्ष की व्यवस्था तक असभव है। इसके दोषों का कथन समन्तभद्राचार्य ने निम्न प्रकार से किया है–

नित्यत्वैकान्त पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभाव: क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्।।
प्रमाण कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियाऽर्थवत्।
ते च नित्ये विकार्यं विकार्य किं साधोस्ते शासनाद् बहि:।।
यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।।
परिणाम प्रवलृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त बाधिनी।।
पुण्य पाप क्रिया न स्यात्प्रेत्यभाव: फलं कुत:।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायक:।। –आप्तमीमासा, ३७ से ४०

नित्य एकान्त पक्ष में भी विक्रिया (अवस्था से अवस्थान्तर रूप परिणाम, हलन–चलन रूप परिणाम/परिस्पन्द अथवा किसी भी क्रिया) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कारकों का अभाव पहले ही होता है। अर्थात् जहाँ कोई अवस्था न बदले वहाँ कर्त्ता, कर्म करणादि कारको का सद्भाव बनता ही नहीं जब कारकों का अभाव है तब प्रमाण और प्रमाण का फल ये दोनों कहाँ बन सकते है। यदि साख्यवादियो की ओर से यह कहा जाय कि कारण रूप जो अव्यक्त पदार्थ है, वह सर्वथा नित्य हैं, कार्य रूप जो व्यक्त पदार्थ है, वह नित्य नही है और इसलिए विक्रिया बनती है, तो व्यक्त पदार्थ हैं, वह नित्य नही है, क्योंकि सर्वदा नित्य के द्वारा कोई भी विकार रूप क्रिया नही बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है। हे वीर! आपके शासन के बाह्य जो नित्यत्व का सर्वथा एकान्तवाद है, उसमें विक्रिया के लिए कोई स्थान नहीं है। कार्य को यदि सर्वथा सत्य माना जाय, तो वह उत्पत्ति के योग्य नहीं ठहरता अर्थात् कूटस्थ होने से उसमे उत्पत्ति जैसी कोई बात नही बनती है। वस्तु मे परिणाम की कल्पना नित्यत्त्व के एकान्त को बाधा पहुँचाने वाली है। जिनके आप नायक नहीं है, उन सर्वथा नित्यैकान्तवादियो के मत मे पुण्य–पाप की क्रिया नही बनती तथा परलोक गमन नहीं बनता। सुख–दु ख रूप फल प्राप्ति की तो बात ही कहॉ से हो सकती है और न जन्म तथा मोक्ष ही बन सकता है। इसलिए नित्यत्व के एकान्त पक्ष मे कौन परीक्षावान् किसलिए आदरवान हो सकता है। अर्थात् नही हो सकता है।

सर्वथा नित्यत्वैकान्तवाद का निषेध करने वाले स्वामी समन्तभद्र सर्वथा अनित्यत्वैकान्तवाद का भी उसी रूप मे खण्डन करते है।

स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात्–किवृत्तचिद्विधि ।

सप्तभङ्ग नयापेक्षो हेयाद्वेय–विशेषक.।। –आप्तमीमासा १०४

''स्यात्'' यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकान्त का त्यागी होने से ''कथञ्चित्, कथञ्चन'' आदि शब्द के अर्थ का वाची है। जैसे जीव नित्य है, अनित्य भी है। स्याद्वाद सप्तभंगनय की अपेक्षा रखता है, अतएव सप्तभगी प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी इस सप्तभंगी प्रकिया को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने वाले प्रथम आचार्य है। हॉ, इनके पूर्णरूप से स्पष्ट करने वाले प्रथम आचार्य हैं। हाँ, इनके पूर्व'' सिया अत्थि दव्वं सिया णत्थि दव्व'' आदि प्रकार से स्याद्वाद और और सप्तभगी का कथन मात्र प्राप्त होता रहा है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा स्पष्ट करती है--

सिय अत्थिणत्थि उहयं अव्वतव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।। –पच्चास्तिकाय १४

अर्थात् द्रव्य आदेशवशात् वस्तुत स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति–नास्ति, अवक्तव्य (स्यात् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य) इस प्रकार सप्तभगवाला पदार्थ होता है।

इसप्रकार का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है किन्तु इसकी निश्चित व्याख्या नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भावैकान्त, अभावैकान्त है द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अन्यतैकान्त–अनन्यतैकान्त, अपेक्षैकान्त–अनपेक्षैकान्त, हेत्वैकान्त–अहेत्वैकान्त, विज्ञानैकान्त–बहिरक्षैकान्त, दैवैकान्त–पौरूषेयैकान्त, पापैकान्त–पुण्यैकान्त, बन्धकारणैकान्त, मोक्षकारणैकान्त जैसे एकान्तवादो की सम्यक् समीक्षा करते हुए उनमे सप्तभगी (सप्तकोटियों) की योजना द्वारा स्याद्वाद की प्रस्थापना करने वाले आचार्य समन्तभद्र ही हैं। उक्त अनेक एकान्तो मे सप्तभगी का प्रयोग तथा युक्ति के बल पर वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध करना वादीभ केसरी समन्तभद्रस्वामी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इन्होने प्रत्येक वस्तु मे सत्–असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियो को ही नही, अपितु सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और सदसदवक्तव्य इन तीन कोटियो को मिलाकर सप्तमग को प्रस्थापित किया है।

सप्तमंगी प्रक्रिया को विस्तार के साथ उदाहरण पूर्वक स्पष्ट करना ही अपेक्षित है। यथा–

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाण नयवाक्यत:।
सदादि कल्पना या च सप्तभंगीति सा मता।।

एक ही पदार्थ मे बिना किसी विरोध के प्रमाण व नय के वाक्य से सत् आदि की कल्पना करना सो सप्तभगी कही गई है।

१. **स्यात् अस्ति**–कथंचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य है अर्थात् अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा से है।

२. **स्यात् नास्ति**–कथचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य नहीं है। अर्थात् पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव रूप पर–चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य नही है।

३. **स्यात् अस्ति–नास्ति**–कथंचित् द्रव्य है व नही दोनों रूप है। अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है पर चतुष्टय की अपेक्षा नही है।

४. **स्यात् अवक्तव्य**–कथचित् द्रव्य वचनगोचर नहीं है अर्थात् एक समय मे यह नही कहा जा सकता कि द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा है व पर चतुष्टय की अपेक्षा नही है, क्योकि कहा है–क्रम प्रवृत्तिर्भारती अर्थात् वाणी क्रम–क्रम से ही बोली जा सकती है।

५. **स्यात् अस्ति–अवक्तव्य**–कथचित् द्रव्य है और अवक्तव्य दोनो रूप है अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है परन्तु एक साथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है।

६. **स्यात् नास्ति–अवक्तव्य**–कथचित् द्रव्य नही है और अवक्तव्य दोनो रूप है। (अर्थात् परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नही है परन्तु एक साथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है।

७. **स्यात् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य**–किसी अपेक्षा से है व नहीं तथा अवक्तव्य तीनो रूप है अर्थात् क्रम से स्वचतुष्टय की अपेक्षा है, पर चतुष्टय की अपेक्षा नही है, परन्तु एक साथ स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है।

क्या द्रव्य है? क्या द्रव्य नही है? क्या द्रव्य दोनों रूप है? क्या द्रव्य अवक्तव्य है? क्या द्रव्य अस्ति वक्तव्य है? क्या द्रव्य नास्ति और अवक्तव्य है? क्या द्रव्य अस्ति नास्ति और अवक्तव्य तीन रूप है? इन प्रश्नो के किए जाने पर सात प्रकार से ही समाधान उत्तर मे किया जाता है। यह प्रमाण सप्तभगी का स्वरूप कहा।

एक ही द्रव्य किस तरह सप्तभग रूप होता है? ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान करते है–जैसे देवदत्त नाम का पुरुष एक ही है, वही मुख्य और गौण की अपेक्षा से बहुत प्रकार है सो इस तरह है– वही देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाता है, वही पिता की अपेक्षा पुत्र कहा जाता है, मामा की अपेक्षा भानजा कहा जाता है, वही अपने भानजे की अपेक्षा मामा कहा जाता है, अपनी स्त्री की अपेक्षा पति कहा जाता है, अपनी बहन की अपेक्षा भाई कहा जाता है, अपने शत्रु की अपेक्षा शत्रु कहा जाता है, अपने इष्ट की अपेक्षा मित्र कहा जाता है इत्यादि एक ही द्रव्य मुख्य और गौण की अपेक्षा सप्तभग रूप हो जाता है–इसमे कोई दोष नही है, यह सामान्य व्याख्यान है। यदि इससे सूक्ष्म व्याख्यान करे तो द्रव्य मे जो सत् एक नित्य आदि स्वभाव है उनमे से एक–एक स्वभाव के वर्णन मे सात–सात भग कहने चाहिये। वे इस तरह कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् नित्यानित्य, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि।

ये प्रत्येक के सात भंग इसी देवदत्त के समान होगे।

१. स्यात् पुत्र है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है।

२ स्यात् अपुत्र है अर्थात् अपने पिता के सिवाय अन्य की अपेक्षा पुत्र नही है।

३ स्यात् पुत्र अपुत्र है दोनो रूप है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अन्य की अपेक्षा पुत्र नही है।

४ स्यात् अवक्तव्य है अर्थात् एक ही समय भिन्न–भिन्न अपेक्षा से कहे तो यह नही कह सकते है कि पुत्र अपुत्र दो रूप है।

५ स्यात् पुत्र और अवक्तव्य है अर्थात् यह देवदत्त जब अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तब ही एक समय मे कहने योग्य न होने से कि पुत्र है या अपुत्र है यह अवक्तव्य भी है।

६ स्यात् अपुत्र अवक्तव्य है अर्थात् जब यह देवदत्त अपने पिता से अन्य की अपेक्षा अपुत्र है तब ही एक समय मे कहने योग्य न होने से अवक्तव्य है।

७. स्यात् पुत्र अपुत्र अवक्तव्य है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र, पर की अपेक्षा अपुत्र तब ही एक समय में कहने योग्य न होने, से अवक्तव्य है।

इसी तरह सूक्ष्म व्याख्यान की अपेक्षा से सप्तभंगी का कथन जान लेना चाहिए। स्यात् द्रव्य है इत्यादि ऐसा पढ़ने से प्रमाण सप्तभगी जानी जाती है। क्योंकि स्यात् अस्ति यह वचन सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला है, इसलिए प्रमाण वाक्य है–'**स्यात् अस्ति एव द्रव्यम्**' ऐसा वचन वस्तु के एक देश को अर्थात् उसके मात्र अस्तित्व स्वभाव को ग्रहण करने वाला है। इससे नय वाक्य है, क्योकि कहा है–''**सकलादेश: प्रमाणधीनो विकलादेशो नयाधीन**'' इति अर्थात् वस्तु सर्व को कहने वाला वचन प्रमाण के अधीन है और उसी के एक अश को कहने वाला वचन नय के आधीन है।

स्याद्वाद का उद्‌गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ ग्रहण के लिए अनेकान्त दृष्टि है। स्पाद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधी धर्ययुगलो का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है वही असत् है। किन्तु जिस रूप से सत् है उसी रूप से असत् नहीं है स्वरूप की दृष्टि से सत् है और पर रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चय दृष्टि बिन्दुओ के आधार पर वस्तु तत्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयरूप हो नहीं सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथचिद् वाद भी कहा जा सकता है। यह सत्य है कि स्याद्वाद की नीव अपेक्षा है। अपेक्षा कहाँ होती है? जहा वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दिखलाई पड़ता हो। विरोध वहाँ होता है जहॉ निश्चय होता है, किन्तु अपेक्षा के साथ विरोध के लिए अवकाश नही होता है।

अपेक्षा को ध्यान मे न रखने वाले स्यात् शब्द के अर्थ को ठीक से समझ भी नही सके और उन्होने स्यात् का अर्थ संशय, संभावना आदि समझकर

स्याद्वाद को सशयवाद या सभावनावाद तक कह दिया जो जैनशासन के लिए तो अहितकारी है ही, साथ उनके अल्पज्ञान का सूचक भी है।

स्याद्वाद को सम्यक् प्रकार से जानने के लिए समन्तभद्राचार्य प्रणीत स्तोत्र साहित्य मे पैठ बनाना होगी। स्यात् शब्द मूलत. तिङन्त प्रतिरूपक निपात (अव्यय) है। यह पद अनेकान्त का घोतन करता है। **'स्यादस्ति पट:'** इस वाक्य में अस्ति पद वस्तु के अस्तित्व धर्म का वाचक है और 'स्यात्' पद उसमें रहने वाले नास्तित्त्व आदि शेष धर्मों का द्योतन करता है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तव केवलिनामपि।। –आप्तमीमांसा १०३

अर्थात् हे भगवन! आपके मत मे 'स्यात्'–शब्द अर्थ के साथ सम्बद्ध होने के कारण **'स्यादस्ति घट:'** इत्यादि वाक्यो मे अनेकान्त का द्योतन होता है और गम्य अर्थ का विशेषण होता है। स्यात् शब्द निपात है तथा केवलियो और श्रुत केवलियो को भी अभिमत है।

स्यात् पद एकान्त के परित्याग पूर्वक कथचित् अर्थ मे प्रयुक्त है। आचार्य अकलक देव ने **'अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वाद:'** अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन का नाम स्याद्वाद है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि कथञ्चित के अर्थ मे 'स्यात्' निपात शब्द का प्रयोग होता है। जिससे एकान्त का खण्डन और अनेकान्त का मण्डन होता है। स्याद्वाद मञ्जरीकार श्री मल्लिषेण भी लिखते हैं–**''स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं तत: स्याद्वाद: अनेकान्तवाद: नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैक वस्त्वभ्युपगम इति यावत्''** अर्थात् स्यात् यह अव्यय पद अनेकान्त का द्योतक है। इसलिए नित्य अनित्य आदि अनेक धर्मरूप एक वस्तु का कथन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

यह इतना व्यापक सिद्धान्त है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसका प्रयोग दिखलायी पड़ता है–जैसे आधुनिकविज्ञान, राष्ट्रीय, लोक–व्यवहार, साम्प्रदायिकता के निराकरण, दैनिक जीवन अहिसा लोक आदि। इन विषयो मे विविध की चर्चा अन्य आलेखो मे भी आयेगी यहाँ कुछ का सकेत मात्र किया जा रहा है।

आधुनिक अनेक वस्तुओ के आविष्कार मे अपेक्षावाद या स्याद्वाद की रीति से ही वस्तुतत्वों का परीक्षण होता है, प्रयोग होता है, आविष्कार होता है। अत. स्याद्वाद भौतिक आविष्कारो का भी एक प्रबल माध्यम है।

स्याद्वाद को जैन दर्शन मे लोक व्यवहार का नेता कहा गया है जो निम्न उद्धरण से सष्ट है–

जेण विणा लोगस्सति ववहारो सव्वहान निव्वडई।
तस्स भुवणेक्क गुरु णो णमो अणेगंत वायस्स।। –सन्मति तर्क ३/६८

वस्तुत यह सिद्धान्त सुव्यवस्थित और लोकमान्य है। यह अनन्त धर्मात्मक वस्तु की विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यवस्था करता है तथा उस व्यवस्था में किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में विधि और निषेध, सामान्य और विशेष द्रव्य और पर्याय आदि प्रकार से दो मर्यादाएँ पाई जाती है। इन्ही दो मर्यादाओ के कारण वस्तु अर्थ क्रियाकारी होती है। वस्तु की अर्थ क्रियाकारिता में ही सार्थकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी का पूरा स्तोत्र साहित्य स्याद्वाद सिद्धान्त का उद्भावक है। उनकी समग्र प्रस्तुति आलेख के माध्यम से प्रस्तुत करना असभव है, किन्तु संक्षिप्त में निदर्शन कर प्रस्तुत किया गया है। यह भी निश्चित है कि स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसगत और विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है। इसमें सन्देह या संशय के लिए अवकाश नहीं है। निश्चित अपेक्षा से निश्चित धर्म का प्रतिपादन करने वाला सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है।

प्राध्यापक दि. जैन कालिज बड़ौत

जैन धर्म और आयुर्वेद

राजकुमार जैन

आयुर्वेद शास्त्र चूँकि परोपकारी शास्त्र है, अत जैन धर्म के अन्तर्गत वह उपादेय है। यही कारण है कि धर्म–दर्शन–आचार–नीति शास्त्र–ज्योतिष आदि अन्यान्य विद्याओ की भाँति वैद्यक विद्या भी जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा जिस प्रकार अन्य विद्याओ का कथन किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद विद्या का कथन भी सांगोपाग रूप से विस्तार पूर्वक किया गया है। अपने लोकोपकारी स्वरूप के कारण आयुर्वेद शास्त्र की व्यापकता इतनी अधिक रही कि वह शाश्वत रूप से विद्यमान है। सर्वज्ञ वीत्तराग की वाणी द्वारा मुखरित होने के कारण अनेक प्रभावी जैनाचार्यो ने इसे अपनाया और गहन रूप से उसके गूढ़तम तत्वो का अध्ययन किया। जैन धर्म के ऐसे अनेक आचार्यो की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है जिन्होने अपने प्रखर पाण्डित्य के अधीन आयुर्वेद शास्त्र को भी समाविष्ट किया। इसका एक प्रमाण तो यही है जिन आचार्यो ने सर्वज्ञ वाणी का मथन कर आयुर्वेदामृत को निकाला उसे उन्होने अपनी महिमामयी लेखनी के द्वारा लिपिबद्ध कर जगत्हितार्थ प्रसारित किया। उन आचार्यो द्वारा लिखित आयुर्वेद विषयक ऐसी अनेक कृतियो का उल्लेख अन्यान्य ग्रंथो मे मिलता है। इससे इस तथ्य की तो पुष्टि होती है कि जैन धर्म में अन्य विधाओं की भॉति आयुर्वेद का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म और दर्शनशास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाया है, आचारशास्त्र और नीतिशास्त्र ने जिस प्रकार जैन सस्कृति की उपयोगिता को उद्भासित

किया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र ने स्वास्थ्य प्रतिपादक सिद्धान्तों एवं संयमपूर्वक आहार चर्या आदि के द्वारा जैन धर्म और संस्कृति को व्यापक तथा लोकोपयोगी बनाने मे अपना अपूर्व योगदान किया है। सद्वृत्त का आचरण तथा आहारगत संयम का परिपालन मनुष्य को आत्म कल्याण के सोपान पर आरूढ़ करता है। जैन धर्म मे भी आत्म कल्याण हेतु प्रवृत्ति का निर्देश दिया गया है। अतः लक्ष्य साधन मे समानता की स्थिति एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन सस्कृति के लोकोपकारी स्वरूप निर्माण मे अन्य विधाओ और कलाओ का जो योगदान रहा है वही योगदान आयुर्वेद शास्त्र का भी समझना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र मे कुछ विशेषताएँ तो ऐसी है जो अन्य शास्त्रों में बिल्कुल भी नहीं है। मनुष्य के दैनिक जीवन मे आचरित अनेक बाते ऐसी है जिनके नियम और उपयोगी सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित हैं। गर्भ धारण से लेकर मरणपर्यन्त की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख एव वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है। इसीलिए इसे जीवन–विज्ञान कहा जाता है। मानव जीवन के साथ निकटता एव तादात्म्य भाव इस शास्त्र की मौलिक विशेषता है। जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में यह उपयोगी एव महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद की परिधि मे आने वाली ऐसी अनेक बातें हैं जो धर्म की दृष्टि से उपयोगी हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की अनेक ऐसी बाते हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी धार्मिक दृष्टि से हैं।

इस संदर्भ में 'उपवास' को ही लिया जाए। आत्म–कल्याण की दृष्टि से जैनधर्म मे इस प्रक्रिया को अति महत्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि उपवास के द्वारा जहाँ आहारगत संयम का पालन होता है वहाँ अन्तःकरण मे उत्पन्न भावो एव परिणामों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उधर आयुर्वेद शास्त्र में भी 'उपवास' की अतिशय महत्ता स्वीकार की गई है। इसका कारण यह है कि उपवास के द्वारा जिह्वा की लम्पटता, रसो की लोलुपता तथा अति–भक्षण आदि अहितकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है और उदर शुद्धि के साथ–साथ उदरगत क्रियाओ को विश्राम मिलता है। रोगो का मूल उदर विकार माना गया है जो आहार की अनियमितता और आहार सबधी नियमों के उल्लघन से होता है। उपवास के द्वारा दूषित, मलिन, विकृत, अहित, परस्पर विरुद्ध तथा

अशुद्ध आहार से तो शरीर की रक्षा होती ही है, उदर में संचित दोषों और विकारों का शमन भी होता है। उपवास के द्वारा शारीरिक आरोग्य सम्पादन के साथ–साथ आत्मा को बल और अन्त करण को निर्मलता प्राप्त होती है।

उपवास को आयुर्वेद में 'लघन' कहा जाता है। अनेक रोगों के शमनार्थ लंघन की उपयोगिता सुविदित है। ज्वर मे सर्वप्रथम लंघन का निर्देश दिया गया है। अजीर्ण, अतिसार, आमातिसार, आमवात तथा श्लेष्माजनित विभिन्न विकारो मे लंघन का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। विभिन्न रोगो में लंघन का निर्देश यद्यपि स्पष्टत विकारोपशमन के लिये किया गया है और उपवास के साथ उसका कोई तादात्म्य भाव नही है, तथापि दोनो की प्रकृति एक समान होने से दोनों में निकटता तो है ही । इसके अतिरिक्त लंघन के द्वारा जब विकाराभिनिवृत्ति होती है तो उस प्रकृति स्थापन एवं शुद्धिकरण की प्रक्रिया का पर्याप्त प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है और मन में विकारो के प्राबल्य में निश्चित रूप से कमी होती है। उपवास का प्रयोजन भी अन्त करण की शुद्धि करना है। लंघन के पीछे यद्यपि धार्मिक प्रवृत्ति या आध्यात्मिक भाव नहीं होता है, तथापि विवेक एव नियमानुसार उसका भी आचरण किया जाय तो विकारोपशमन के साथ–साथ उपवास का फल भी अर्जित किया जा सकता है। उपवास के द्वारा तो निश्चय ही आध्यात्मिक रूप से पुण्य फल की उपलब्धि के साथ–साथ शारीरिक व मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि लंघन के द्वारा आरोग्य लाभ होता है जो व्यवहारज स्वास्थ्य कहलाता है। यह व्यवहारज स्वास्थ्य पारमार्थिक स्वास्थ्य की लब्धि मे सहायक साधन है, अतः आध्यात्मिक निःश्रेयस् की दृष्टि से लंघन भी एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण साधन है।

आध्यात्मिक अभ्युन्नति, आत्मकल्याण तथा अन्त करण की शुद्धि की दृष्टि से जैनधर्म में दसलक्षण धर्मों का विशेष महत्व है। दस लक्षण धर्मों में त्याग धर्म को अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्म कल्याण हेतु विशेष उपयोगी एव महत्वपूर्ण निरूपित किया गया है। उत्तम त्याग धर्म के अन्तर्गत गृहस्थजनों के लिए चार प्रकार का दान बतलाया गया है। जिसमें एक औषधि दान भी है। जैन धर्म मे अन्य दानों की भाति औषध दान की महिमा भी बतलाई गई

है। औषध दान के द्वारा दानकर्ता को पुण्य का संचय तो होता ही है, औषध दान का लाभ लेने वाला व्यक्ति आरोग्य लाभ करता है। औषध का समावेश चिकित्सा के अन्तर्गत है और चिकित्सा का सर्वांगपूर्ण विवेचन आयुर्वेद शास्त्र में निहित है। यही कारण है कि जैन समाज द्वारा स्थान-स्थान पर जैन धर्मार्थ दातव्य औषधालय खोले गए हैं जो केवल समाज के दान से ही चलते है और प्रतिदिन असंख्य आर्तजन उनसे लाभ उठाते है। यह परम्परा समाज में कई वर्षों से चली आ रही है। अत यह निसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का आयुर्वेद से निकट सम्बन्ध है।

जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के शरीर मे रोगोद्भव अशुभकर्म के उदय से होता है। मनुष्य के द्वारा पूर्वजन्म मे किए गए पाप कर्म का उदय जब इस जन्म मे फलित होता है तो अन्यान्य कष्टो के अलावा रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। उसका निवारण तब तक सम्भव नही है जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर उसका क्षय नही हो जाता। धर्माचरण से पाप का शमन होता है, अत पापकर्मजनित रोग का शमन धर्म सेवन से ही सम्भव है। यही भाव जैनधर्म मे निम्न प्रकार से प्रतिपादित है –

सर्वात्मना धर्मपरो नरः स्यात्तमाशु सर्वं समुपैति सौख्यम्।
पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात्।।
नश्यन्ति, सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्ति किमत्र चित्रम्।

–कल्याण कारक ७/२९

अर्थात् जो मनुष्य सर्वप्रकार से धर्मपरायण रहता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म मे परस्पर प्रतिपक्ष (विरोधी) भाव होने से धर्म से पाप का नाश होता है, अत धर्म के प्रभाव से पाप जनित रोग का नाश होता है। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से (धर्म के प्रभाव से) यदि रोग समूह विनाश को प्राप्त होते है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है?

धर्म के प्रभाव से पाप रूप रोग का जो विनाश होता है उसमे धर्म तो वस्तुत आभ्यन्तर कारण होता है और बाह्य करण विविध औषधोपचार होता

है। बाह्य कारण के रूप में प्रयुक्त औषधोपचार को ही चिकित्सा कहा जाता है, जबकि आभ्यन्तर कारण के रूप में सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है। किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है। रोगापशमनार्थ बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के रूप मे धर्म आदि की कारणता निम्न प्रकार से बतलाई गई है–

धर्मस्तथाभ्यन्तरकारणं स्याद्रोगप्रशान्त्यै सहकारी पूरम्।
बाह्यं विधानं प्रतिपद्यतेऽत्र चिकित्सितं सर्वमिहोभयात्म।।

–कल्याण कारक ७/३०

अर्थात् रोगो की शान्ति के लिए धर्म आभ्यन्तर कारण होता है, जबकि बाह्य चिकित्सा सहकारी पूरक कारण होता है। अत. सम्पूर्ण चिकित्सा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है।

चिकित्सा कर्म के द्वारा लोगो के व्याधिजनित कष्ट का निवारण ही नही होता है, अपितु कई बार भीषण दु साध्य व्याधि से मुक्त हो जाने के कारण जीवनदान भी प्राप्त होता है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे गए है जिनसे ज्ञात होता है कि कई व्यक्ति अपनी व्याधि की भीषणता एवं जीर्णता के कारण अपने जीवन से निराश हो गए थे, जिन्हे अपना जीवन बचने की कोई आशा नही थी उन्हे समुचित चिकित्सोपचार द्वारा रोग से छुटकारा मिला तो उन्होने अनुभव किया कि उन्हे जीवनदान ही नही मिला, अपितु नवीन जीवन प्राप्त हुआ। इस प्रकार चिकित्सा के द्वारा लोगो को स्वास्थ्य लाभ पहुँचाकर जीवन निर्वाह का अवसर प्रदान करना अतिशय पुण्य का कार्य है। किन्तु इसमे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जो चिकित्सा की जाती है उसके मूल मे परोपकार और नि स्वार्थ की भावना कितनी है? इस पर पुण्य की मात्रा निर्भर है। क्योंकि धन के लोभ से स्वार्थवश किया गया चिकित्सा कार्य पुण्य के हेतु नहीं माना जा सकता। धनलिप्सा के कारण वह लोभवृत्ति एव परिग्रह वृत्ति का परिचायक है। ये दोनों ही भाव अशुभ कर्म के बन्ध का कारण माने गए है। अत ऐसी स्थिति मे वह परलोक के सुख का कारण कैसे बन सकती है? चिकित्साकार्य वस्तुत अत्यन्त पवित्र कार्य है और वह परहित की भावना से

प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिये। तब ही वह धर्माचरण माना जा सकता है और तब ही उसके द्वारा पापों (अशुभ कर्मो) का नाश एवं धर्म की अभिवृद्धि होकर आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

पापों का विनाशक होने के कारण जैनाचार्यों ने चिकित्सा को उभयलोक का साधन निरूपित किया है। चिकित्सा कार्य भी एक प्रकार की साधना है, जिसमें सफल होने पर रोगी को कष्ट से मुक्ति और चिकित्सक को यश और धन के साथ-साथ पुण्य फल की प्राप्ति होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने चिकित्सा कर्म की प्रशसा करते हुए लिखा है –

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं चिकित्सितं धर्मविवृद्धये च।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च।।

–कल्या कारक २/३२

अर्थात् रोगियों की चिकित्सा पापो का विनाश करने के लिए तथा धर्म की अभिवृद्धि करने के लिए की जानी चाहिये। चिकित्सा के द्वारा उभय लोक (यह लोक और परलोक दोनो) का साधन होता है। अत चिकित्सा से अधिक श्रेष्ठ कोई और तप नही है।

चिकित्सा का उद्देश्य मुख्यत परहित की भावना होना चाहिये। इस प्रकार की भावना वैद्य के पूर्वोपार्जित कर्मो का क्षय करने मे कारण होती है। अन्य किसी प्रकार के स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर किया गया चिकित्सा कर्म आयुर्वेदशास्त्र के उच्चादर्शो से सर्वथा विपरीत है। चिकित्सा के उच्चतम आदर्शमय उद्देश्य के पीछे निम्न प्रकार का स्वार्थ भाव सर्वथा गर्हित बतलाया गया है –

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहान्न चार्थलाभान्न च मित्ररागात्।
न शत्रुरोषान्न च बंधुबुद्धया न चान्य इत्यन्यमनोविकारात्।।
न चैव सत्कारनिमित्ततो वा न चात्मनः सद्यशसे विधेयम्।
कारूण्यबुद्धया परलोकहेतौ कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान्।।

–कल्याण कारक ७/३३–३४

इसलिए वैद्य के लिए उचित है कि उसे काम और मोह के वशीभूत होकर, अर्थ (धर्म) के लोभ से, मित्र के प्रति अनुराग भाव से, शत्रु के प्रतिरोध (क्रोध) भाव से, बंधुबुद्धि (ममत्वभाव) से तथा इसी प्रकार के अन्य मनोविकार से प्रेरित होकर अथवा अपने सत्कार के निमित्त या अपने यश अर्जन के लिए चिकित्सा नहीं करना चाहिये। विद्वान् वैद्य कारुण्य बुद्धि (रोगियों के प्रति दया भाव) से परलोक साधन के लिए तथा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए चिकित्सा कार्य करें।

जिन शासन मे ऐसी भी क्रियाविधि उपादेय मानी गई है जो कर्म क्षय करने मे साधनभूत हो। अन्य शुभकर्म भी आचरणीय बतलाए गए है, किन्तु उनसे मात्र शुभ कर्म का बध होकर पुण्य का संचय होता है और उससे परलोक में सुखप्राप्ति होती है उससे कर्मो का क्षय नही होने से बन्धन से मुक्ति या आत्म कल्याण नही होता है। चिकित्सा कार्य मे यदि कारुण्य भाव निहित हो तो उससे कर्म क्षय होता है ऐसा विद्वानो का अभिमत है, जैसा कि उपर्युक्त वचन से सुस्पष्ट है।

कोई भी वैद्य अपने उच्चादर्श, चिकित्सा कार्य मे नैपुण्य, शास्त्रीय ज्ञान की गभीरता, मानवीय गुणो की सम्पन्नता, नि स्वार्थ सेवाभाव आदि विशिष्ट गुणो से ही समाज में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही उसकी स्वय की प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा और समष्टिरूपेण देश की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। वैद्यत्व की सार्थकता भी वस्तुत इसी में निहित है। जिसका वैद्यत्व एव वैद्यक व्यवसाय परोपकार की पवित्र भावना से प्रेरित न हो उसका वैद्य होना ही निरर्थक है। क्योंकि वैद्य का उच्चादर्श रोगी को भीषण व्याधि से मुक्त कराकर उसे आरोग्य लाभ प्रदान करना है। महर्षि अग्निवेश ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है –

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वताक्षयम्।
छित्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति।।
धमार्थदातासदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते।।

–चरक सहिता, चिकित्सास्थान १/४/६०–६१

अर्थात् भयंकर रोगों द्वारा यमपुरी की ओर बलात् ले जाते हुए प्राणियो के प्राण को जो वैद्य यमराज के पाशों को काटकर बचा लेता है उसके समान धर्म–अर्थ को देने वाला इस जगत् मे दूसरा कोई नहीं पाया जाता है। क्योंकि जीवनदान से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है। अर्थात् सभी प्रकार के दानों में जीवन (प्राण) का दान करना (बचाना) सबसे बड़ा दान बतलाया गया है। जैनधर्म मे प्राणदान को अभयदान की संज्ञा दी गई है। वैद्य के द्वारा चूँकि रोगी को जीवन दान मिलता है, इसीलिए ससार में धर्म और अर्थ को देने वाला सबसे बड़ा वैद्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि आयुर्वेद मे जीवनदान को कितना विशिष्ट माना गया है। उसके अनुसार जीवनदान से बढ़कर कोई दूसरा दान नही है। जीवनदान मे जहॉ परहित का भाव निहित है वहॉ वैद्य का उच्चतम आदर्श भी प्रतिबिम्बित होता है। दूसरो के प्राणों की रक्षा करना जैन सस्कृति का मूल है, क्योंकि इसी मे लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना निहित है। इस दृष्टि से जैनधर्म और आयुर्वेद की निकटता सुस्पष्ट है। परहित की पावन–भावना से प्रेरित होने के कारण इस आयुर्वेद शास्त्र मे जहॉ दूसरो की प्राण रक्षा को विशेष महत्व दिया गया है वहा अजीविका के साधन के रूप में इसे अपनाए जाने का पूर्ण निषेध किया गया है। वर्तमान समय मे यद्यपि आयुर्वेद का अध्ययन और अध्यापन पूर्णत. स्वार्थ प्रेरित होकर आजीविका के निमित्त से किया जाता है। अब तो यह आजीविका के साधन के अतिरिक्त पूर्णत व्यापारिक रूप को धारण कर चुका है जो आयुर्वेद चिकित्सा के उच्चादर्शो के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा के जो उच्चादर्श प्रतिपादित किए है वे उभय लोक हितकारी होने से निश्चय ही अनुकरणीय है और जैनधर्म की दृष्टि से अनुशसति है। उन आदर्शो मे प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए नि स्वार्थ भाव से चिकित्सा करने की प्रेरणा दी गई है। यथा –

धर्मार्थ नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभि:।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भि: स्थानमक्षरम्।।

नार्थार्थं नापि कामर्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते।।
कुर्वते ये तु वृत्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा कांचनं राशिं पांशुराशिमुपासते।।

—चरक संहिता, चिकित्सा स्थान १/३/५७–५९

अर्थात् धर्म मे तत्पर रहने वाले, अक्षर स्थान (ब्रह्मप्राप्ति) की इच्छा रखने वाले महर्षियों के द्वारा धर्म के लिए आयुर्वेद का प्रकाशन किया गया। (उपदेश दिया गया) अत· चिकित्सा करते हुए जो वैद्य अर्थ (धन) और काम (अपने विशिष्ट मनोरथ) को ध्यान में न रखते हुए केवल प्राणियों पर दया भाव पूर्वक चिकित्सा में तत्पर होता है वह चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करता है। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक कहलाता है। जो चिकित्सक मात्र अपनी जीविका के लिए उस चिकित्सा को व्यवसाय बनाकर उसे बाजार मे बेचते है वे स्वर्णराशि को छोड़कर धूलि राशि को एकत्र करते है।

आयुर्वेद शास्त्र में भूतदया (प्राणिमात्र के प्रति दया) को सर्वोपरि माना गया है। उसी मे सम्पूर्ण चिकित्सा की सफलता एव सार्थकता निहित है। जैनधर्म मे भी प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। अत: दोनों मे उद्देश्य साम्य का भाव स्पष्टत: लक्षित होता है। भूतदया को आयुर्वेद मे निम्न प्रकार से परम धर्म माना गया है –

परोभूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सा।
वर्तते: य स: सिद्धार्थ: सुखमत्यन्तमश्नुते।।

—चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान १/४/६५

अर्थात् प्राणियो पर दया करना उत्तम धर्म है—ऐसा मानकर चिकित्सा मे जो प्रवृत्त होता है वह सफल मनोरथ अत्यन्त (अत्यधिक) सुख को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार का भाव आयुर्वेद मे अन्यत्र भी प्रतिपादित है जो दृष्टव्य है—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा।।

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान ९/२६

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति मित्रता भाव रखना, रोगी व्यक्तियो में करुणा का भाव, साध्य रोगों मे प्रेमपूर्वक चिकित्सा करने की भावना और असाध्य रोग या रोगी मे उपेक्षावृत्ति, वैद्य में ये चार वृत्तियाँ होना चाहिये।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि आयुर्वेद में किस प्रकार प्राणियों के कल्याण के प्रति स्थान–स्थान पर वैद्यों को निर्देश दिया गया है। मानव जीवन की सार्थकता का प्रतिपादन जिस सहज भावपूर्वक किया गया है उससे आयुर्वेद की आध्यत्मिकता का आभास सहज ही हो जाता है। जैन धर्म मे इन्हीं मूल्यो की स्थापना पूर्णत. शुद्धरूपेण आध्यात्मिक धरातल पर की गई है और भौतिक द्रव्यो के प्रति राग–द्वेष भाव के समूल नाश का उद्घोष किया गया है। अत. यह मानना समयोचित एव युक्ति युक्त होगा कि आदर्श साम्य के कारण तथा कतिपय महत्वपूर्ण आयुर्वेदीय सिद्धान्तों को जैन धर्म एवं सस्कृति का समर्थन होने के कारण ज्योतिष, कला आदि विद्याओं की भांति जैनधर्म में आयुर्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आयुर्वेद का अपना क्षेत्र और सीमाएं सर्वथा अलग एवं भिन्न हैं, तथापि कई बातो में समानता होने से साहित्य निर्माण के क्षेत्र में अनेक जैनाचार्यों ने आयुर्वेद को अपनाया और जैन धर्माचरणपूर्वक धर्म की व्यापक परिधि में आयुर्वेद के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ रत्नो का निर्माण किया। इससे धर्म की अभिवृद्धि तो हुई ही, आयुर्वेद जगत् का भी उद्धार हुआ।

११२ए, ब्लाक–सी, पाकेट–सी,
शालीमार बाग, दिल्ली–५२

एस.एस.एल. जैन महाविद्यालय संग्रहालय में संरक्षित जैन प्रतिमाएं

नरेशकुमार पाठक

एस एस एल जैन स्नाकोत्तर महाविद्यालय के सग्रहालय में सग्रहीत प्रतिमाएं मूलत· बेसनगर, विदिशा शहर एव उसके आस–पास के क्षेत्र से सग्रहीत की गई है जो वर्तमान में महाविद्यालय के एक कक्ष मे प्रदर्शित हैं। संग्रह में हिन्दू एव जैन धर्म से सम्बन्धित कलाकृतियों का संग्रह उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अभिलेख एव अभिलेखित स्मारक स्तम्भ भी सुरक्षित हैं। मध्यकालीन बलुआ पत्थर पर निर्मित १७ जैन प्रतिमाए सग्रहीत की गई है जिनका विवरण इस प्रकार है –

पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवानपार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में शिल्पाकित है। तीर्थंकर का सिर अलग है जिस पर कुन्तलित केशराशि का आलेखन है। पीछे की सर्पफण नागमौलि टूट चुकी है। वक्ष पर श्रीवत्स का प्रतीक है। तीर्थंकर के दाईं ओर सौधर्मेन्द्र और बाईं ओर ईशानेन्द्र चँवर लिये हुए खड़े है। पादपीठ पर दाईं ओर यक्षणी पद्मावती और बाईं ओर यक्ष धरणेन्द्र का अकन है। परिकर में दो जिन प्रतिमाओ को अंकित किया गया है। अलंकरण उच्चस्तरीय है।

लाञ्छनविहीन तीर्थंकर प्रतिमाएं –

सग्रहालय में लाञ्छनविहीन तीर्थंकर की चार पद्मासन एव एक कायोत्सर्ग

मुद्रा में निर्मित प्रतिमाए सरक्षित है। प्रथम पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित तीर्थकर प्रतिमा का सिर आंशिक रूप से खण्डित है, वक्ष पर श्रीवत्स प्रतीक का आलेखन है।

दूसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे शिल्पांकित तीर्थकर का सिर भग्न है। वक्ष स्थल पर श्रीवत्स प्रतीक का अकन आकर्षक है।

तीसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठे हुए तीर्थकर के सिर पर कुन्तलित केशराशि व कर्ण चापो का आलेखन है। दोनो पार्श्व मे कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमाओं को अंकन किया गया है।

चौथी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठी हुई तीर्थकर प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि एवं वक्षस्थल पर श्रीवत्स प्रतीक चिन्ह का आलेखन है। दोनों पार्श्व मे एक–एक कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमा अंकित है। वितान में एक अन्य प्रतिमा शिल्पांकन है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में शिल्पाकित तीर्थकर का पादपीठ एव पैर भग्न है। सिर पर कुन्तलित केशराशि है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स का प्रतीक का आलेखन है। बाए पार्श्व में चामरधारी एवं एक अन्य प्रतिमा का अकन है। मुखमुद्रा सौम्य है।

अम्बिका

सग्रहालय मे बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ की शासन देवी आम्रादेवी अपर नाम अम्बिका की दो प्रतिमाएं सरक्षित हैं। प्रथम मूर्ति में देवी अम्बिका का कमर से नीचे का भाग भग्न है। देवी का दाया हाथ भग्न है। बायां हाथ आशिक रूप से सुरक्षित है, जिससे अपने कनिष्ठ बेटे प्रियकर को सम्हाले हुए है जो उनकी गोद मे बैठा है। देवी के ऊपर सर्पफण नागमौलि एव आम्र वृक्ष है। आम्र वृक्ष के मध्य में बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ की छोटी सी पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। अम्बिका का मुस्कान भरा चेहरा आकर्षक और

प्रभावपूर्ण है। केशविन्यास मनोहारी है, गले में मुक्तामाला एव उरोज तक फैली हारावली, हाथों में केयूर व वलय तथा कटि में मेखला आदि आभूषण धारण किए हुए है।

शासनदेवी अम्बिका की दूसरी प्रतिमा के हाथ एव कमर से नीचे का भाग भग्न है। मस्तक के ऊपर आम्रवृक्ष का आलेखन है। देवी आकर्षक केश, चक्र कुण्डल, मुक्तामाला धारण किये है।

गोमेद–अम्बिका

सग्रहालय में तेईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की ही शासन यक्ष–यक्षी गोमेद और अम्बिका की दो प्रतिमाएं संरक्षित हैं। प्रथम मूर्ति मे सिर विहीन गोमेद–अम्बिका ललितासन में बैठी हुई हैं। दोनो के सिर भग्न हैं। गोमेद का दायां हाथ भग्न है। बाए हाथ मे आम्रलुम्बि लिए है, दाएं हाथ से अपने कनिष्ठ पुत्र प्रियकर को समहाले हुए है। पादपीठ में ६ लघु प्रतिमाए ललितासन में बैठी हुई है। गोमेदहार, यज्ञोपवीत, केयूर, वलय एव मेखला धारण किए है। अम्बिका भी मुक्तामाला, केयूर, वलय मेखला एव नूपुर पहने हुए है।

दूसरी प्रतिमा में भी गोमेद और अम्बिका ललितासन में बैठे हुए है। दोनो के हाथ भग्न है। सिर पर नागफण मौलि है। मध्य से निकलते आम्रवृक्ष की दोनो पर छाया है। दोनों पारम्परिक आभूषणों से अलकृत हैं। दोनो तरफ जिन प्रतिमा अकित है। पादपीठ पर साथ लघु प्रतिमाए ललितासन मे बैठी हुई है।

जिन–प्रतिमा वितान, पादपीठ एवं सिर

किसी तीर्थंकर प्रतिमा का पादपीठ का दाया पैर का भाग प्राप्त है जिसके नीचे उत्कीर्ण प्रतिमा का स्थापना लेख का कुछ अंश सुरक्षित है, जिसका वाचन इस प्रकार है।

संवत १२३४ जनसह

जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित शिल्पखण्ड पर एवं खण्डित अवस्था में दुन्दभिकों का अंकन है। अलंकरण सामान्य है।

सग्रहालय मे पाच जिन प्रतिमाओ के सिर सुरक्षित है। प्रथम कुन्तलित केश व कर्णचाप से युक्त किसी विशाल जिन–प्रतिमा का सिर है, मध्य मे केश उठे हुये हैं।

दूसरे जिन–प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि एव कर्णचापो का आलेखन है।

तीसरी जिन–प्रतिमा के सिर पर भी आकर्षक कुन्तलित केश एव लम्बे कर्णचापो का अलकरण है। मुखमुद्रा सौम्य है।

चौथी जिन–प्रतिमा के सिर की दाहिने ओर का कर्णचाप सुरक्षित है, बाई ओर का भग्न है। सिर पर कुन्तलित केश का आलेखन सुरक्षित है।

पाचवी जिन प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि, कर्णचाप तथा सिर के पीछे आकर्षक प्रभावली का आलेखन है।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय,
गूजरी महल, ग्वालियर (म०प्र०)

आवरण २ का शेष

आगमहीणो समणो णेवप्पाण परं वियाणादि।

अविजाणंतोअट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। –चारित्राधिकार, गाथा–३३

आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न आत्मा से भिन्न शरीर आदि पर पदार्थों को। स्व–पर पदार्थो को नही जानने वाला भिक्षु कर्मो का क्षय कैसे कर सकता है?

अत ११वी गाथा का उपर्युक्त अर्थ पक्षग्राही होने से विवादास्पद ही रहा है। आचार्य जयसेन ने भी ११वी गाथा के उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार नही करते हुए इसके अर्थ का दूसरा विकल्प निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया –

"द्वितीय व्याख्यानेन पुन **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो **भूदत्थो** भूतार्थश्च **देसिदो** देशित कथित न केवल व्यवहारो देशित **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोपि। दु शब्दादय शुद्ध निश्चयनयोपीति व्याख्यानेन भूताभूतार्थ भेदेन व्यवहारोपिद्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चय नयोपि द्विधा इति नय चतुष्टयम्।"

इस प्रकार इस गाथा का अर्थ प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहा है और आचार्य अमृतचन्द्र के परवर्ती टीकाकारो, व्याख्याकारो एव हिन्दी भाष्यकर्त्ताओ ने भी अनेक प्रकार की नय विवक्षाओ को न समझकर उसी का अनुकरण करते हुए इसको प्रमाण रूप मे प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु अप्रमाण रूप यह अर्थ अद्यावधि विवादास्पद ही बना रहा जिसका निराकरण चारित्र के पालन/अभिवृद्धि हेतु अत्यावश्यक है।

जिन शासन मे प्रतिपादित नय विवक्षा के अनुसार नय वस्तुत वस्तु के अशमात्र को ग्रहण करता है। नय चक्र मे इस कथन का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है –

जं णाणीण वियप्पं सुदासयं वत्थुअंस संगहणं।

तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेण।। –नयचक्र, १७२

अर्थात् श्रुतज्ञान का आश्रय लिए हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अश को ग्रहण करता है उसे नय कहते है और उस ज्ञान से ज्ञानी होता है।

व्यवहार नय की भाति निश्चय नय भी वस्तु के अश को ग्रहण करता है, न कि अभेद/पूर्णवस्तु को। दोनो ही नय वस्तु के अश के यथार्थ प्रतिपादक है, अत सापेक्ष दोनो नय मिथ्या नही है और निरपेक्ष दोनो नय मिथ्या है। इस सम्बन्ध मे नयचक्र का निम्न कथन महत्वपूर्ण है –

ण दु णयपक्खो मिच्छा तं पि य णेयंतदव्वसिद्धियरा।

सियसद्दसमारुढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं।। – नयचक्र, गाथा–२९३

अर्थात् जिनेन्द्र देव के वचन से विनिर्गत 'स्यात्' शब्द से समारुढ़ नयपक्ष भी मिथ्या नही है। क्योकि वह एकान्त से द्रव्य की सिद्धि नही करता है और वह शुद्ध है। यहॉ 'शुद्ध' शब्द से निश्चय नय नही समझकर पूर्वापर दोषरहित समझना चाहिये, जैसाकि प्रतिपादित है –

आवरण ३ का शेष

"तस्स मुहग्गद वयणं पुव्वापर दोस विरहियं सुद्धं।" – नियमसार, गाथा–८

इससे पूर्व कसाय पाहुड़ की टीका मे भी इसका प्रतिपादन मिलता है –

जिणवयण णिच्च सच्चा सव्वणया पर वियालणे मोहा।

ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।। – भाग–१, पृ० २५७

वे सभी नय अपने अपने विषय का कथन करने मे समीचीन है और दूसरे नयो का विचार करने मे मोहित है। **अनेकान्त रूप समय (आगम) के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है–ऐसा विभेद नहीं करते हैं।**

इस प्रकार सभी नय भूतार्थ ही है। किसी नय को अभूतार्थ कहना जिनागम की अवहेलना ही होगी।

सम्पूर्ण समय पाहुड़ ग्रथराज नव पदार्थो का भूतार्थ (व्यवहार और निश्चय) नय से ज्ञान कराता है, जैसा कि उसकी गाथा–"भूयत्थेण अभिगदा । से स्पष्ट है।

भूतार्थ से जाने गए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष सम्यक्त्व है। यहाँ पर आचार्य ने भूतार्थ पद देकर निश्चय और व्यवहार दोनो नयो का समावेश किया है और दोनो नयो की सापेक्षता से ही गाथा मे वर्णित सम्पूर्ण पदार्थों की सिद्धि होती है और दोनो सापेक्ष नय ही सम्यक्त्व युक्त ज्ञान के साधन है और इन्हे भूतार्थ जानना चाहिये।

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क . १०१.०० रु.

वार्षिक मूल्य ६ रु., इस अंक का मूल्य . १ रुपया ५० पैसे

यह अक स्वाध्याय शालाओ एव मंदिरों की माग पर नि.शुल्क

●●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एवं समाचार प्राय. नहीं लिये जाते।

●●

सपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक . श्री भारत भूषण जैन एड्वोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली–२

मुद्रक _ मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली–३२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62